दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2499 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 28 अंक नं० 8

अध्यात्म-भजन

दुविधा कब जइए या मन की।

कब निज नाथ निरंजन निरखूं, तज सेवा जन-जन की, दुविधा०

कब रुचिसौं पीवै दृगचातक, बून्द अक्षयपद धन की,
कब सुख लेऊँ भेद परमातम, मिटे धारणा धन की। दुविधा०

कब घट अंतर रहे निरंतर, दृढ़ता सुगुरु वचन की;
कब सुख ध्यान धरूँ परमातम, करूँ ना समता तन की। दुविधा०

कब घर छाँड़ होऊँ एकाकी, लिये लालसा वन की;
ऐसी दशा कब हो 'बुधजन' की, बलि बलि जाऊ वा छिनकी। दुविधा०

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जनवरी : 1973] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (332) एक अंक 35 पैसा [मार्गशीर्ष : 2499

सोनगढ़ में बन रहे परमागम मंदिर के लिये इटली से आई हुई मशीन द्वारा संगमरमर पर श्री पंचास्तिकाय शास्त्र उत्कीर्ण हो जाने के पश्चात् पौष कृष्णा अष्टमी तारीख 27-12-72 के दिन पूज्य श्री कानजीस्वामी के सुहस्त से श्री समयसारजी शास्त्र उत्कीर्ण करने की मंगल-विधि अजित मुद्रणालय सोनगढ़ में हुई, उस अवसर का दृश्य। जयपुर निवासी सेठ श्री पूरणचंदजी गोदीका मशीन द्वारा अक्षर खोद रहे हैं। उनके निकट पूज्य स्वामीजी, श्री पोपटलाल वोरा तथा श्री पंडित हिम्मतभाई आदि खड़े हैं। मुम्बई से आये मशीनचालक श्री शंकर मशीन का संचालन कर रहे हैं।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

जनवरी : 1973 ☆ मार्गशीर्ष : वीर नि० सं० 2499, वर्ष 28 वाँ ☆ अंक : 8

निर्विकल्प अनुभव

निर्विकल्प अनुभव से ही साधकदशा का प्रारंभ होता है। उस दशा का आनंद ऐसा है कि जिसका विकल्प से भी चिंतवन नहीं किया जा सकता। निर्विकल्प अनुभव के समय ज्ञान अतीन्द्रिय होकर प्रत्यक्ष स्वानुभव करता है, उस काल के आनंद की तो मुख्य विशेषता है, उसकी अचिंत्य महिमा है। स्वानुभव की ऐसी महिमा सुनकर किसी को ऐसा लगे कि ऐसा अनुभव तो किन्हीं बड़े-बड़े मुनियों को ही होता है! हम जैसे गृहस्थों को ऐसा अनुभव कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हुए यहाँ बतलाया है कि ऐसा निर्विकल्प स्वानुभव चौथे गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है; ऐसा अनुभव हो, तभी चौथा गुणस्थान होता है। ऐसा अनुभव होने के पश्चात् गुणस्थानानुसार परिणाम की स्थिति और लीनता बढ़ती जाती है। अनुभव के काल में श्रावक को मुनि समान माना है। संसार में चाहे जैसे क्लेश अथवा प्रतिकूलता के प्रसंग आयें, परंतु जहाँ चैतन्य के ध्यान की स्फुरणा हुई, वहाँ वे समस्त क्लेश दूर भागते हैं। चैतन्य के चिंतन में अकेली आनंद की ही धारा बहती है। अनुभवी जीव के अंतर की दशा ही कुछ और होती है।

आत्मा इंद्रियों से नहीं अंतर्मुख ज्ञान से ज्ञात होता है

[नियमसार गाथा 38 पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

❀ यह आत्मतत्त्व शरीर और वाणी से भिन्न नित्यानंदरूप शुद्ध है। उसे भूलकर अज्ञानी पुण्य-पाप तथा शरीरादि में अपनत्व-कर्तृत्व मानता है; इसलिये उसे शुद्ध भाव का अनुभव नहीं होता और दु:ख का ही वेदन करता है; इसलिये जिसे सुखी होना हो, उसे प्रथम ऐसी प्रतीति करना चाहिये कि मैं शरीर एवं रागादि से भिन्न चैतन्य हूँ। आत्मा सदा परिपूर्ण ज्ञानानंद शक्तिवान है; उसे पहिचानकर, अंतरस्थिरता के बल द्वारा जिन्होंने पूर्णशक्ति प्रगट की, उन्होंने (राग के अवलंबन बिना-इच्छा बिना) पूर्ण ज्ञान द्वारा जगत के सर्व पदार्थों को जाना और कहा कि—आत्मा एक समय में परिपूर्ण ज्ञानमय है; वह देहादि से भिन्न है; उसे रुचि में लेकर जो उसकी श्रद्धा-ज्ञान तथा अनुभव करेगा, वह सुखी होगा।

❀ अंतर में विचारशक्ति-ज्ञान है। सौ वर्ष की आयुवाला मनुष्य 90 वर्ष पहले की बातों का क्षणभर में स्मरण कर सकता है—ऐसी शक्ति उसमें प्रतिक्षण विद्यमान है; उस ज्ञान को अपने त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करके, स्वयं अपने स्वद्रव्य का (-ध्रुव ज्ञायक स्वभाव का) आश्रय करे तथा उसी में लीनता करे तो तीनकाल-तीनलोक के समस्त पदार्थों को एक समय में जानने की जो शक्ति अपने में है, वह प्रगट होती है।

❀ वर्तमान मति-श्रुतज्ञान द्वारा पूर्व के अनेक भवों का ज्ञान होता है और ऐसे पूर्व भवों का स्मरण करनेवाले इस काल में भी हैं; किंतु वह अपूर्व नहीं है। शुद्ध ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को जानना, वह अपूर्व है तथा वही हित का कारण है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—'जीवद्रव्य एक अखंड संपूर्ण होने से उसका ज्ञान-सामर्थ्य भी संपूर्ण है; जो संपूर्ण वीतराग हो, वह संपूर्ण सर्वज्ञ होता है।' उन्होंने यथार्थ अनुभव द्वारा, अंतर के कपाट खोलकर आत्मसाक्षात्कार किया था; इसलिये सहज आत्मा के वेदन द्वारा ऐसे सुंदर वाक्य की रचना की थी।

❀ अंतर में रमण करे, वह सर्वज्ञपद प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग कैसे प्रगट हो—दु:खों से

छुटकारा कैसे हो ? उसका विचार करते हुए उन्होंने मोक्षमाला नामक ग्रंथ में काव्य लिखा है कि—'वह दिव्यशक्तिमान जिससे बंधनमुक्त हो।' पुण्य-पाप तथा शरीरादि की एकत्वबुद्धि के बंधन में पड़ा हुआ पराधीन दु:खी हो रहा है; तो अब अंतर प्रतीति के द्वारा उसे बंधन को काटकर निर्दोष सुख की प्राप्ति कर!—ऐसा वे गृहस्थदशा में कहते हैं। वे गृहस्थदशा में रहने पर भी गृहस्थदशा की रुचि रहित त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में दृष्टि रखकर साधकपने की साधना करते थे।

❀ अब यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मोक्ष और मोक्ष के उपाय का कारण कारणपरमात्मा ध्रुववस्तु है; वह औदयिक, औपशमिकादि चार भावों के लक्ष से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; किंतु त्रिकाल एकरूप कारणस्वभाव शक्तिरूप है, उस पर दृष्टि तथा एकाग्रता करने से शुद्धि का अंश तथा पूर्णता प्रगट होती है। जैसे-लैंडी पीपर में जो पूर्ण चरपराहट की शक्ति भरी है, वह कारणस्वभाव है और उसे घोंटने से जो प्रगट हो, उसे कार्य कहा जाता है; उसीप्रकार आत्मा में त्रैकालिक ध्रुवशक्तिरूप शुद्ध स्वभाव है, उसे कारणपरमात्मा, कारणशुद्धजीव, अंत:तत्त्व अथवा शुद्धभाव कहा जाता है। (उसमें द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म तो नहीं है किंतु औदयिकादि चार भाव भी नहीं हैं।)

❀ प्रभु! तेरी प्रभुता अंतर में विद्यमान है, वहाँ दृष्टि डाल। जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्होंने कहा कि—तू भी हमारी जाति का है। जिसप्रकार सरावगी जाति का प्रीतिभोज हो तो उस जाति का गरीब आदमी भी बड़े आदमी के पास बैठकर भोजन कर सकता है; उसीप्रकार परमात्मा कहते हैं कि तू मेरे समान-मेरी जातपांत का है, मात्र वर्तमान दशा में अंतर है; त्रैकालिक स्वभाव में किंचित् अंतर नहीं है। इसलिये वर्तमान अंश की रुचि छोड़कर त्रैकालिक पूर्ण स्वभाव की रुचि कर। ऐसे अपने कारणपरमात्मा में दृष्टि डालने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। वर्तमान पर्याय में पुण्य-पाप की वृत्ति होती दिखायी देती है, किंतु उसरूप ज्ञायकभाव नहीं हो जाता। विकारी वृत्ति ज्ञानी को प्रतिक्षण दूर होती जाती है। जो दूर हो जाये, वह तेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा सिद्धांत है।

❀ शांति, स्वतंत्रता, अतीन्द्रिय आनंद का मार्ग (उपाय) तुझे प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये तू संयोग और पुण्य की रुचि में अटक रहा है और उसी कारण तुझे अंतर की वस्तु क्या है, उसकी सूझ नहीं पड़ती। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने करुणा करके अंतरंग मार्ग खोलकर

बतलाया है। उनके रचे हुए श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय शास्त्रों की सर्वोत्तम टीका एक हजार वर्ष पूर्व श्री अमृतचंद्राचार्य ने की है।

❀ श्री कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं। वे सर्वज्ञ-कथित आत्मतत्त्व का अनुभव करते हुए, आत्मा की शांति में (अतीन्द्रिय आनंद की रमणता में) झूलते-लीन रहते थे। मद्रास के पास 80 मील दूर पोन्नूरहिल नामक सुंदर पहाड़ी है; वहाँ उनके चरण-चिह्न हैं। आसपास काफी संख्या में जैनों की बस्ती है। वहाँ से कुछ ही दूर स्थित एक गाँव के मठ में एक संन्यासी रहते हैं; उनके यहाँ प्राचीन लेख है कि—कुन्दकुन्दाचार्य महान समर्थ ज्ञानी और आकाशगमन ऋद्धिधारी दिगम्बर मुनि थे। अन्य स्थानों पर भी प्राचीन शिलालेख मिलते हैं जिनमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा उनकी आकाशगमन ऋद्धि का उल्लेख है।

❀ दक्षिणयात्रा के समय वहाँ के जानकार पंडित कहते थे कि—श्री कुन्दकुन्दाचार्य इसी पोन्नूरहिल की गुफा में तप-ध्यान करते थे और यहीं से वे महाविदेहक्षेत्र गये थे। वहाँ से लौटकर शास्त्रों की रचना भी यहीं की थी। वे विदेहक्षेत्र में आठ दिन तक श्री सीमंधर भगवान के पास रहे थे। एक बार भगवान के समवसरण में चिंतवन करते हुए विरह लगा कि—अरे! साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा यहाँ नहीं हैं.... और फिर महाविदेहक्षेत्र जाने का योग मिल गया। वहाँ आठ दिन तक रहे। यह बात यथार्थ है, त्रिकाल सत्य है। मात्र शास्त्रों के आधार से यह बात नहीं है। इस बात का स्मरण होने से हमें अति हर्षोल्लास हुआ कि—धन्य है यह क्षेत्र और धन्य है वह काल.... जब श्री कुन्दकुन्दाचार्य समान परमानंद में झूलनेवाले, पूर्णानंद की प्रतीति एवं आनंद के अनुभव में लीन रहनेवाले संत यहाँ विचरते होंगे। विदेहक्षेत्र में आज भी श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजमान हैं और वहाँ समवसरण में उनकी दिव्यध्वनि खिर रही है।—यह प्रत्यक्ष बात है।

❀ इस नियमसार शास्त्र में अध्यात्म की अति स्पष्ट बात कही है। शुद्धभाव, परमस्वभाव, त्रैकालिक कारणस्वभाव, कारणद्रव्य, कारणशुद्ध जीव, कारणपरमात्मा कहो, वह सब एक ही है। जिस भंडार में दृष्टि डालने से परमानंद की प्राप्ति होती है, वह अंत:तत्त्व (ध्रुवस्वभाव) ऐसा है कि—पुण्य-पाप-रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म या जड़ शरीर उसके नहीं हैं। आत्मा त्रैकालिक सहज ज्ञायकभावरूप है। उसे पहिचाने बिना कभी धर्म

नहीं होता। आत्मा के धर्म में तो अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है। धर्मी (गृहस्थदशा में) चक्रवर्ती हो, तथापि वह राग से भिन्नता करके अंदर ज्ञायकभाव में दृष्टि डालता है। आत्मस्वाद के समझे उसे छह खंड का राज्य अत्यंत तुच्छ भासित होता है।

❀ श्रवणबेलगोला में ऋषभदेव भगवान के पुत्र श्री बाहुबलि भगवान की अद्भुत मूर्ति है, जिसकी ऊँचाई 57 फीट है। दुनिया में वह नौवां आश्चर्य माना जाता है। प्रतिमाजी की मुखमुद्रा पर यथार्थ वीतरागता झलक रही है। दक्षिण की यात्रा से लौटने पर एक पंडितजी ने पूछा कि—'आपने तीन दिन तक रोज डेढ़-डेढ़ घंटे तक प्रतिमाजी के दर्शन किये, तो आपको उसमें क्या विशेषता दिखायी दी?' उत्तर दिया कि—अहो... वह तो आँखों में तैर रही है। अंतर में अद्भुत अपार पवित्रता और बाह्य में उत्कृष्ट पुण्य की पराकाष्ठा देखी! एकाग्रतापूर्वक देखने पर मानो संपूर्ण आत्मा अंतर में स्थिर हो गया हो! पवित्रता का पिंड शांत आनंद-सागर में लीन दिखायी दिया और बिजली की चमक के समान पुण्य भी देखा।

❀ आत्मा कैसा है?—कि कर्ममल से तथा विभावगुण-पर्यायों से रहित है। वहाँ मति-श्रुतज्ञान को विभावगुण-पर्याय कहा है। केवलज्ञान क्षायिक पर्याय है, वह निचली सधकदशा में नहीं होती। वह भी अनित्य पर्याय है, क्योंकि क्षण-क्षण बदलती है। आत्मा उतना ही नहीं है।

❀ 'अहो! प्रभु... प्रभुता है तेरी चैतन्यधाम में...'

भाई! तेरा चैतन्यघन शाश्वत् सत् ध्रुव है। क्षायिक पर्याय के लक्ष से भी उसे नहीं पकड़ा जा सकता। चार भावों को विभाव (विशेषभाव) कहा है; वे ध्रुव (सामान्य) नहीं हैं।

❀ जो परमपारिणामिकस्वभाव की श्रद्धा-रुचि-महिमा करेगा, वह अल्पकाल में सिद्ध परमात्मा बनकर उनके साथ विराजमान होगा। जो जिज्ञासापूर्वक सत्य समझना चाहे, उसमें कोमलता, सरलता, सज्जनता आती ही है। कोई सत्ताप्रिय हाकिम हो और उसके तंबू में खूँटी ढीली पड़ने से सल आ जाये तो उसे अच्छा नहीं लगता; फिर हवा में सारा तंबू उड़ रहा हो तो उसे कैसे अच्छा लगेगा? उसीप्रकार अज्ञानी को पर में अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अभिमान होता है, उसे निरालंबी पूर्ण आत्मा कैसे अच्छा लगेगा? संयोगों की भावना होती है, किंतु संयोग तो अनित्य-अशरण हैं, उनमें से नित्यतारूप शरण कहाँ से आयेगी! बालक जन्म

लेकर माता की गोद में आये, उससे पूर्व ही वह अनित्यता की गोद में चला जाता है। इस शरीर और पुण्य-पाप की वृत्ति भी अनित्य ही है; उसके आश्रय में सुख-समाधान ढूँढ़े तो नहीं मिलता।

❀ पुण्य के फलरूप धन की वृद्धि होने पर अज्ञानी को अभिमान हो जाता है कि—मैं बड़ा हूँ! किंतु प्रभु! तेरी सुखदाता वस्तु कौन-सी है?—यह तो तूने सुना ही नहीं। शरीर सदा जड़ है, वह उसके अपने कारण बदलता है; पुण्य-पाप-आस्रव मलिन भाव हैं; उनसे निर्मलता प्रगट नहीं होती; किंतु उनकी अपेक्षारहित अंतर में ध्रुवस्वभाव में देखे तो नित्य कारणशक्ति में से शुद्धकार्य प्रगट होता है।

❀ आत्मा विभाव गुण-पर्याय से रहित है, ऐसा कथन नास्ति से है; किंतु अंतर में अस्तिरूप से देखने पर वह अनादि-अनंत ज्ञायकस्वरूप है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित सदा अरूपी अमूर्तिक है। अत्यधिक ज्ञान के कारण भी शरीर में भार का अनुभव नहीं होता, इससे निश्चय होता है कि ज्ञान में भार नहीं है; वह पूर्वकालीन रागादि क्लेश की बात वर्तमान में स्मरण कर सकता है, किंतु स्मरण करने से कहीं रागादि नहीं होते, इसलिये सिद्ध होता है कि ज्ञान में पुण्य-पाप (रागादि) रूप मलिनता नहीं है। रागादि में एकत्वबुद्धि-कर्तृत्वबुद्धि का ही मुख्य दोष है; उस जीव के ज्ञान को अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहा जाता है।

❀ अधिक जानने से ज्ञान में भारी मालूम हो या राग-द्वेष उपाधि बढ़ जाये, ऐसा नहीं है। ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है। जिसकी वर्तमान अपूर्व दशा में भी पूर्व के कई वर्षों की बात याद करने की शक्ति है, वह यदि पूर्ण हो तो किसे नहीं जानेगा?—सर्व को जान सकता है।

❀ आत्मा अनादि-अनंत अतीन्द्रिय ज्ञानमय वस्तु सदा संयोग और विकार के अभावस्वभावरूप है; उसे इंद्रिय एवं शुभविकल्प द्वारा नहीं जाना जा सकता जीवद्रव्य के ज्ञायकभाव को पारिणामिकभाव कहा जाता है, वह त्रिकाल शुद्ध ही है; किंतु उसकी वर्तमान प्रगट दशा में अशुद्धता, अल्पज्ञता तथा अल्पशक्ति है। उसे गौण करके (उसका आश्रय करने की श्रद्धा छोड़कर) त्रिकाल सामान्य स्वभाव की दृष्टि करने से धर्म का प्रारंभ होता है।

❀ जिसप्रकार जल का नित्य स्वभाव तो शीतलतामय है, किंतु वर्तमान दशा में अग्नि के संबंध से उष्ण अवस्था दिखायी देती है; और शक्तिरूप शीतलता का अनुभव नहीं होता।

उष्णदशा में जीभ, आँख, हाथ द्वारा शीतलता का निर्णय करना चाहे तो नहीं हो सकता; किंतु वह उष्णता क्षणिक है, इसलिये दूर हो सकती है और उस उष्णदशा में भी नित्य शीतलस्वभाव विद्यमान है, ऐसा ज्ञान द्वारा निर्णय हो सकता है। जिसप्रकार पानी में उष्णता है, वह पानी का नित्य स्वभाव नहीं है, किंतु उसकी क्षणिक योग्यता है; उसीप्रकार आत्मा में शांत स्वतंत्र ज्ञानानंदस्वभाव नित्य है, तथापि उसकी वर्तमान दशा में पराश्रय से होनेवाली अल्पज्ञता-अशुद्धता है, वह उसकी क्षणिक योग्यता है, उसके लक्ष से यथार्थ नित्य शुद्धभाव का (आत्मा का) अनुभव नहीं हो सकता। आत्मा वर्तमान प्रगट अंश जितना नहीं है, वह वचन तथा इंद्रियग्राह्य नहीं है किंतु अंतर्मुख ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा है। क्षायिक पर्याय (पूर्ण निर्मल) जितना भी नहीं है; वह तो अनादि-अनंत-अतीन्द्रिय एवं संपूर्ण चैतन्यमय पदार्थ है।

❀ काली मिर्च तथा लाल मिर्च की चरपराहट में अंतर है। ज्ञान उसे जान सकता है किंतु वाणी द्वारा उसका कथन नहीं कर सकता। गाय के ताजे घी का स्वाद भी ज्ञान में ज्ञात होता है किंतु किसी अन्य वस्तु के साथ उसकी तुलना की जाये या उपमा दी जाये तो उससे संतोष नहीं हो सकता; उसीप्रकार आत्मा का वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता।

'जे स्वरूप सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि ते पण श्रीभगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे,
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।

वाणी तो वाहन है; वह अपेक्षा से भेद करके वस्तु का वर्णन कर सकती है, किंतु उसमें तो मात्र संकेत आता है—एकसाथ संपूर्ण स्वरूप नहीं आ सकता। वाणी के संकेत से समझ लेनेवाला अंतरप्रतीति कर ले तो ज्ञात हो कि यह ऐसा तत्त्व है।

'क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो...' इसमें श्रीमद् राजचंद्रजी यथार्थ निर्ग्रंथता की-वीतरागी मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने की भावना भाते हैं। बाह्य में वस्त्र का ताना भी नहीं है; अंतर में मिथ्यात्व-रागादि दोष नहीं हैं। मिथ्यात्व की गाँठ तो उन्होंने पहले ही तोड़ दी थी और गृहस्थदशा में विशेष वीतरागी चारित्रदशा की भावना भाते हैं।

❀ राग, इच्छा, कथन और इंद्रियों के व्यापार से पार शुद्ध चैतन्यवस्तु है। जटा, नरेली

और ऊपर की लाल छाल से रहित सफेद गोले की भाँति आत्मा अंतर में शरीर कर्म एवं राग से रहित सहज स्वाभाविक ज्ञानानंदमय अनादि-अनंत है, वह किसी के द्वारा निर्मित नहीं है और न किसी पुण्य या शुभराग की क्रिया से उसकी प्राप्ति होती है। क्षयोपशमभावरूप अपूर्ण विकास जितना वह नहीं है; क्षायिकभाव भी आत्मा का त्रैकालिक स्वरूप नहीं है। आत्मा तो अनादि अनंत परमपारिणामिक ज्ञायकभावस्वरूप है। जिसके आधार से सम्यग्दर्शनरूप धर्म का प्रारंभ होकर पूर्ण शुद्धतारूप क्षायिकभाव प्रगट हो, ऐसे ध्रुवरूप कारणस्वभाव को परमभाव अथवा शुद्धभाव कहा जाता है।

❀ गज (माप) बड़ा या पर्वत? बड़े-बड़े पर्वतों की नपाई हो जाने पर भी गज (माप) कम नहीं होता। अनंत पर्वतों को नाप लेने पर भी गज ज्यों का त्यों रहता है। जिसप्रकार गज के मापने की शक्ति अपार है, उसीप्रकार आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव में जानने की अपार शक्ति है। वह तीन काल-तीन लोक को एक साथ एक समय में समस्त प्रकार से जानता है। एक लोक है, किंतु कदाचित् अनंतगुने लोक हों, तब भी उन्हें जान सकता है। अहो! ऐसे आत्मा के गीत अज्ञानी ने प्रेमपूर्वक कभी नहीं सुने।

❀ माता अपने बच्चे को सयाना कहकर उसे समझा-पटाकर सुलाने के गीत गाती है। सर्वज्ञ धर्मपिता अज्ञान मोहमय भावनिद्रा से जीवों को जगाने के लिये गीत गाते हैं। वे कहते हैं कि—हे जीव! तू अनादि-अनंत, शरीर से भिन्न एवं परमज्ञानस्वभावी, परमपारिणामिक तत्त्व है; तुझमें मात्र ज्ञान ही भरा है, उसमें दृष्टि डाल। अज्ञानदशा में भी अंतर में अपार निर्मलतारूप ज्ञान अव्यक्तरूप से विद्यमान है, परंतु अज्ञानी को तीव्र मोह के कारण ज्ञानविकास की शक्ति मंद हो जाती है; ज्ञानी की दृष्टि अनादि-अनंत कारण परमात्मारूप परमभाव निधान पर जाती है।

❀ यह कारणपरमात्मा तो वास्तव में त्रिकाली आत्मा ही है; अति आसन्नभव्य जीवों को इस निजपरमात्मतत्त्व के सिवा अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। अमर होने के मार्ग की यह बात है। अंतर में ध्रुव कारण परमात्मद्रव्य नित्य एकरूप है; उसका श्रद्धा, उसका लक्ष और उसमें एकाग्रता करके आनंद प्राप्त करने की यह रीति है।

[परमपावन धर्म का दिव्य संदेश देकर पूज्य स्वामीजी वर्तमान में अपूर्व कार्य कर रहे हैं।] ●●

ज्ञानी की पहिचान

(समयसार गाथा 75 के प्रवचन में से)

आचार्य भगवान ने कर्ता-कर्म अधिकार के प्रारंभ में ही बहुत पहलुओं द्वारा-मार्मिकता से समझाकर आत्मा और आस्रवों का (स्वस्वभाव और विभाव का) स्पष्ट भेदज्ञान करा दिया है। जो शिष्य उसीप्रकार समझकर भेदज्ञान प्रगट करके आस्रवों से पीछे हटकर निर्भयता से अपने विज्ञानघनस्वभाव में आरूढ़ हो गया है। ज्ञानस्वरूप होकर जगत का साक्षी हुआ है। ज्ञायकभावपने प्रकाशभाव होकर ज्ञानी हुए हैं। ज्ञानी धर्मात्मा को कैसे चिह्न से पहचानें? यह आचार्यदेव 75वीं गाथा में बता रहे हैं। (—संपादक)

देखो, इसमें ज्ञानी को पहचानने का ऐसा अलौकिक चिह्न आचार्यदेव ने बताया है कि उस चिह्न को जो जीव पहचाने, उसको स्वयं भेदज्ञान हुए बिना न रहे। अहा! आचार्यदेव ने बड़ी अद्भुत शैली से ज्ञानी की पहिचान करायी है—

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे वो हि आत्मा ज्ञानि है॥75॥

ज्ञानी का कार्य क्या? ज्ञानभाव ही ज्ञानी का कार्य है। इसके अतिरिक्त रागादि-परिणाम अथवा कर्म नोकर्म के परिणाम, वे ज्ञानी के कर्म नहीं। ज्ञान-कार्य द्वारा ही ज्ञानी पहिचाना जाता है। राग कार्यों से ज्ञानी को पहचाना जाये तो वे पहिचाने नहीं जा सकते। दुनिया के जीवों ने ज्ञानी को पहचानने की रीति भी नहीं जानी। स्वयं अपने आत्मा को राग से सर्वथा पृथक् ज्ञानस्वभावरूप ही अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा निर्मल ज्ञानपरिणाम के सिवाय और कोई रागादि परिणामों को स्वप्न में भी अपनाते नहीं हैं। राग की जिन्हें रुचि है, राग से भिन्न ज्ञानपरिणाम की जिन्हें खबर नहीं है—ऐसे अज्ञानी जीव ज्ञानियों को किसप्रकार पहचानेंगे? वे तो यही जानेंगे कि ज्ञानी राग को करते हैं। परंतु राग के समय ज्ञानी का ज्ञान राग से अत्यंत

भिन्नरूप ही परिणमित होता है और वह ज्ञानी ज्ञानपरिणाम को ही करता है—ऐसी पहिचान अज्ञानियों को नहीं होती। ज्ञानपरिणाम है, वही ज्ञानी को पहिचानने का चिह्न है। उस चिह्न को पहिचाने, तभी ज्ञानी पहिचाना जाता है। ऐसी पहिचान जो करे, वह स्वयं ज्ञानी हुए बिना नहीं रहता। अर्थात् वह स्वयं ज्ञानी होता है।

राग और विकल्प से हटकर अंतरंग में स्व-संवेदना से शांत-निराकुल अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद जब आने लगे-अनुभव होने लगे—तब जीव ज्ञानी हुआ कहलाता है। क्षण-क्षण में वह जीव आस्रवों से छूटता जाता है और विज्ञानघन होता जाता है। सबसे पहले वेदन के समय उत्पत्ति काल में तो नियम से निर्विकल्प शुद्ध उपयोग होता है। फिर वह निरंतर नहीं हो तो भी उसे आंशिक शुद्ध परिणति तो चालू ही रहती है। सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति-काल में शुद्धोपयोग का अविनाभावीपना है। परंतु सम्यग्दर्शन के साथ में निरंतर शुद्धोपयोग होता ही है, ऐसा कोई नियम नहीं; जब पर तरफ उपयोग हो, तब सम्यग्दर्शन ही नहीं रहता—सम्यग्दर्शन के साथ शुद्धोपयोग सदैव ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। परंतु सम्यग्दर्शन के साथ शुद्ध परिणति तो सदैव होती ही है।

आत्मा जब सम्यक् प्रकार से विज्ञानघन होता है, तभी आस्रवों से सम्यक् प्रकार से निवर्तता है। 'सम्यक् प्रकार से' ऐसा जो कहा है, वह सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान को बतलाता है, अकेले ज्ञान के विकासमात्र से आस्रव रुकते-अटकते नहीं हैं; उसीप्रकार अकेले मंद कषाय से-अशुभ परिणाम को रोकने से कोई विज्ञानघनता नहीं होती अर्थात् जब जीव स्वभाव सन्मुख होकर उसकी सम्यक् प्रतीति करता है, तब उसे आस्रवों और आत्मा का यथार्थ भेदज्ञान होता है तब वह विज्ञानघन होता है और आस्रवों से अलग होता है। इसप्रकार एक क्षण में ही ज्ञान की अस्ति और आस्रवों की नास्तिरूप परिणमन ज्ञानी को वर्तता है। ऐसे परिणामों से ही ज्ञानी को पहिचाना जाता है।

अरे, जीव! आनंदस्वरूप यह चैतन्यवस्तु अंदर में पड़ी है, उसकी महिमा तो कर—उसके अवलोकन के लिये विस्मय, कौतूहल और अद्भुतता तो कर। चैतन्य की महिमा लाकर जैसे-जैसे उसमें ज्ञान जमता जाता है, वैसे वैसे आत्मा विज्ञानघन बनता जाता है। जितना विज्ञानघन बनता है, उतना आस्रवों से छूटता जाता है, और जितना आस्रवों से छूटता है, उतना ही विज्ञानघन होता है। सम्यग्ज्ञान के पहले जीव को किंचित् मात्र भी आस्रवों से निवृत्ति-कही

नहीं जाती और किंचित् मात्र भी विज्ञानघनता कही नहीं जाती। फिर भले ही पंच महाव्रतों का पालन किया जाता हो, हिंसा न करता हो, असत्य न बोलता हो फिर भी अज्ञानी को अशुभ आस्रवों से पूर्ण निवृत्ति हो गई—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह आस्रवों में ही वर्तता है। उसीप्रकार भले ही ग्यारह अंग शास्त्र की पढ़ाई की हो तो भी अज्ञानी को विज्ञानघनता जरा भी नहीं हुई। अत: वह अज्ञानी ही है। जिन्होंने अभी आत्मा और आस्रवों के भेद को समझा ही न हो, दोनों के स्वाद की भिन्नता को जाना ही न हो, वह जीव आस्रवों से विमुख कैसे होगा? अलग कैसे होगा? वह तो रागादि के और ज्ञान के मिश्रित स्वाद का अनुभव करता हुआ अज्ञानता से आस्रवों में ही वर्तता है—उसी में चक्कर लगाता रहता है। यह अज्ञानी को पहिचानने की निशानी-चिह्न है। वह अज्ञानी अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ है—आरूढ़ है और प्रौढ़ विवेकशाली निश्चय में अनारूढ़ है; ज्ञानी धर्मात्मा प्रौढ़ विवेक से शुद्ध निश्चय में आरूढ़ हुए हैं और व्यवहारधर्म का आश्रय छोड़ दिया है। व्यवहार के आश्रय से आत्महित मानने की श्रद्धा को छोड़ दिया है और चारित्र में जितना स्वाश्रय का बल बढ़ाता है, उतने अंश में पराश्रय-राग-व्यवहार छूटता जाता है और उतना विज्ञानघन होता ही है। देखो तो सही, ज्ञानी और अज्ञानी की अंतरंग परिणति में यह फर्क कितना है? एक तो शुद्ध ज्ञान में तन्मयता से परिणमता है और दूसरा रागादि परभावों में तन्मयता से परिणमता है। अंतर के वेदन में स्पष्ट अनुभव से ज्ञान और राग की भिन्नता की प्रतीति होनी चाहिये, भाव-भासन होना चाहिये, तभी भेदज्ञान और विज्ञानघनता होती है। यह 'भेदज्ञान' कोई विकल्परूप नहीं, उसमें निर्विकल्प श्रद्धा, स्वसन्मुख ज्ञान और अंशत: स्थिरता—ये त्रिपुटी समा जाती है; शुद्ध निर्विकल्प रत्नत्रय को भी 'भेदज्ञान' कहा जाता है। हे जीव! अंतर की शांत निर्विकल्प-ज्ञान गुफा में प्रवेश तो कर तुझे आनंद के वेदन सहित सम्यग्दर्शन और भेदज्ञान होगा।

जिसे ऐसा भेदज्ञान हो गया है, वह ज्ञानी धर्मात्मा तो स्वयं अपने को अपने स्वसंवेदन से बराबर पहिचानता है कि मुझे महान ज्ञानप्रकाश प्राप्त हुआ है, अज्ञान दूर हो गया है; रागादि से चैतन्य का ऐसा भेदज्ञान प्राप्त हुआ है कि अब रागादि का अंशमात्र भी कभी मुझे मेरे स्वभावरूप दिखायी नहीं देगा। इसप्रकार ज्ञानी स्वयं को तो स्वसंवेदन से जानता है और सामने के दूसरे-जीव का भी निर्णय किया जा सकता है कि यह जीव रत्नत्रयरूप में परिणमित है, अत: वह अवश्य भव्य ही है। 'धवला' में भी यह दृष्टांत दिया है। मतिज्ञान की निर्मलता का भी

अचिंत्य सामर्थ्य है। स्वयं की या अन्य की ज्ञानी-अज्ञानीपन के खबर न पड़े, ऐसा माने तो वह मूढ़ता-मूर्खता होगी। देखो, जब ज्ञानी को जातिस्मृति होती है, तब उसे ख्याल आ जाता है कि इस शरीर में वर्तनेवाला जीव प्रथम मेरा संबंधी-रिश्तेदार था।—किसप्रकार यह मालूम हुआ? पूर्व का शरीर और इस समय का शरीर तो एकदम बदल गया है तो भी मतिज्ञान की निर्मलता में होने से दूसरे-जीव का निर्णय हो जाता है, क्योंकि यह जीव अमुक भव में-जन्म में-अमुक स्थान पर मेरा, संबंधी-रिश्तेदार था। देखो तो सही ज्ञान की निर्मलता की ताकत!! जातिस्मरण की भी इतनी ताकत, तो फिर अंतर के-स्वसंवेदन से आत्मा का जो अनुभव हुआ, उसके नि:शंक निश्चय की क्या बात!! उसकी तो खुद को खबर-प्रतीति हो ही हो और फिर हो, उसीप्रकार वह दूसरों को भी पहिचान लेता है।

जिसप्रकार मिट्टी और मिट्टी के घड़े को एक वस्तुता होने के कारण उसको कर्ता-कर्मपना है परंतु कुम्हार को और घड़े को एकवस्तुता न होने से उनका कर्ता-कर्मत्व नहीं है। उसीप्रकार चैतन्यस्वभावी आत्मा को और उसके ज्ञानपरिणाम को एकवस्तुता होने से कर्ता-कर्मपना है; परंतु चैतन्यस्वभावी आत्मा को राग के साथ एकवस्तुता नहीं है—भिन्नता है, इससे उनको कर्ता-कर्मपना नहीं है। रागादि को यदि वास्तव में शुद्धदृष्टि से आत्मा के साथ व्याप्य-व्यापकता नहीं हैं परंतु पुद्गल के साथ व्याप्य-व्यापकता है। विकार में कौन व्यापे? विकाररूप किसका विस्तार हो? शुद्ध आत्मा कभी विकार में व्याप्त नहीं होता, शुद्ध आत्मा विस्तार पाकर—फैलकर विकार में जाये—ऐसा नहीं होता। शुद्ध आत्मा फैलकर-विस्तार पाकर स्वयं की निर्मल पर्याय में ही व्याप्त होता है। विकारों में शुद्ध आत्मा व्यापक नहीं; अत: शुद्ध आत्मा की दृष्टि में तो पुद्गल ही उसमें व्याप्त है। शुभराग जिसे अज्ञानी व्यवहार कहते हैं और जिसे मोक्ष का साधन मानते हैं, उस शुभराग में शुद्ध आत्मा का तो अस्तित्व ही नहीं, जिसमें आत्मा का अस्तित्व ही नहीं, उसमें आत्मा व्याप्त ही नहीं, तब वह मोक्ष का साधन किसप्रकार हो सकता है?

यहाँ तो कहते हैं कि वह शुभराग आत्मा का कार्य ही नहीं, जो शुभराग को आत्मा का कार्य मानते हैं, वे आानी हैं। वह राग पर्यायदृष्टि से तो आत्मा की पर्याय में होता है, पर उसके साथ में चैतन्यस्वभाव की एकता नहीं अर्थात् चैतन्यस्वभाव का वह कार्य नहीं। अहा, ऐसा चैतन्यस्वभाव जहाँ दृष्टि में लिया कि जीव मुक्त हुआ।

अहा, जिनवाणी-माता चैतन्य की महत्ता के गीत गाकर चैतन्य को जागृत करती है। भाई! तुम प्रभु हो, तुम सिद्ध हो, तुम शुद्ध हो, तुम बुद्ध हो, तुम अरहंत हो.... इसप्रकार चैतन्य के गुणगान सुनते-सुनते आत्मा उल्लास से उल्लसित हो जागृत होती है। लौकिक-भाषा में कहा जाये तो माता बालक के गुणगान गाकर उसे सुलाती है। यहाँ लोकोत्तर श्रुतिमाता चैतन्य के शांतरस के प्रेम भीने गीत गाकर उसको जगाती है। जाग रे जाग, विभाव में अनादि काल से सोया हुआ है, वह विभाव तेरा स्वरूप नहीं; तेरा स्वरूप निर्विकार चैतन्यमय है। आत्मा के ऐसे गीत सुनकर कौन नहीं जगेगा? कौन चैतन्य की तरफ नहीं झुकेगा? सर्वज्ञ भगवंत और संत स्पष्ट भेदज्ञान कराकर विकार से भिन्न शुद्ध आत्मा को दिखाते हैं। विकार में तो पुद्गल ही है। विकार में आत्मा नहीं, किस दृष्टि से? शुद्ध आत्मा की दृष्टि से। शुद्ध आत्मा की ओर जो झुका, उसके विकार का कर्तृत्वपना छूट गया। जो पर्याय शुद्ध स्वभाव की तरफ झुकी, उस पर्याय में से भी विकार का कर्तृत्व छूट गया। इसप्रकार ज्ञानपर्याय ही ज्ञानी का कार्य है। और ऐसे कार्य के द्वारा ही ज्ञानी की पहिचान होती है। यही ज्ञानी की वास्तविक पहिचान है। इसके अतिरिक्त बाह्य चिह्नों से ज्ञानी पहचाने नहीं जाते।

जहाँ पर्याय में चिदानंदस्वभाव की प्रसिद्धि हुई, वहाँ उसमें विकार की प्रसिद्धि नहीं हुई। निर्मल पर्याय और आत्मस्वभाव की एकता हुई, उसके बीच में विकार का कोई स्थान न रहा अर्थात् विकार गया पर में, अत: उसको पुद्गल का ही कार्य कह दिया।

'वह राग पुद्गल का कार्य है—जीव का नहीं'—सचमुच ऐसा कौन कह सकता है? कि जो जीव विकार से भिन्न हो, चिदानंदस्वभाव की सन्मुखता से निर्मल श्रद्धा-ज्ञानादि परिणाम का कर्ता हुआ है अर्थात् पर्याय में जिसके विकार का कर्तृत्व छूट गया है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा राग को पुद्गल का कार्य जानते हैं। अर्थात् वे राग में तन्मय होकर उसरूप परिणमित नहीं होते परंतु उससे अन्य प्रकार से परिणमित होकर उसके ज्ञाता ही रहते हैं। अज्ञानी राग में तन्मयतापूर्वक वर्तते हैं।

जो जीव राग और ज्ञान का भेदज्ञान भी नहीं करते और यों कहते हैं कि 'राग तो पुद्गल का कार्य है'—तो उन्हें पर्याय का भी विवेक नहीं, उन्हें तो जड़ से भिन्नता का भी भान नहीं है। यहाँ तो जो विवेकता से भेदविज्ञानरूप परिणमित हुआ, वह विकार का अकर्ता हुआ।—उसकी बात है।

अरे जीव! पंचपरमेष्ठी पद में तू जिसका स्मरण करता है, वह पद तेरे में ही पड़ा है। तेरे चैतन्य का ही विकास होकर उसी में से पंचपरमेष्ठी पद खिलता है। वह कहीं बाहर से नहीं आता। धर्मी भी भगवान के पास भक्तिवश गाते हैं कि—

हे वीर! तुम्हारे द्वारे पर एक दर्श भिखारी आया है....
औ शांति सुधारस भरने को दो नयन कटोरे लाया है॥

परंतु अंदर तो ज्ञान है—भान है कि मेरा चैतन्य पद तो मुझ ही में है, वह कोई और दूसरा मुझे दे, यह संभव नहीं। अंतर में अपने चैतन्य के पास जाकर कहता कि हे नाथ! मैं लोकोत्तर भीख माँगने तेरे पास आया हूँ। उत्कृष्ट ऐसा परमेश्वरपद माँगने को तेरे पास आया हूँ। मैं कोई बाह्य-सामग्री माँगने, इंद्रपद माँगने अथवा कोई राग माँगने तेरे पास नहीं आया हूँ परंतु मेरा परमेश्वर पद माँगने को तेरे पास आया हूँ। देखो, यह लोकोत्तर भिखारी! देखने योग भिखारी! अंतरदृष्टि में तो वह बादशाहों का भी बादशाह है और चैतन्यस्वभाव के पास पूर्ण परमात्मदशारूपी भीख माँगता है। और स्वयं की आत्मा ही उसकी दाता है, इसका उसे भान है-ज्ञान है। अर्थात् आत्मा में अंतर्मुख एकाग्र होकर अल्प काल में पूर्ण परमात्मस्वरूप को प्राप्त करता है। अज्ञानी तो विकारों से (मिथ्यात्व और शुभाशुभ आस्रव, मलिनभावों से) भीख माँगता है—याचना करता है कि हे शुभराग! तू मुझे धर्म में-धर्मकार्य में मदद कर! परंतु विकार में ऐसी शक्ति कहाँ? कि वह निर्मल पर्यायरूप धर्म में निवास करे, अर्थात् उसे कभी निर्मल दशा प्राप्त होती नहीं और उसकी याचना कभी मिटती नहीं, अत: चौरासी के अवतार की भीख माँगता फिरता है।

पुद्गल परिणाम को अथवा रागादि विकारों को आत्मद्रव्य—आत्मतत्त्व के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं—ऐसा समझकर जो जीव आत्मतत्त्व की तरफ झुका, वह ज्ञानी हुआ और उसका ज्ञानपरिणाम वह उसका कार्य (कर्म) हुआ।

धर्मी के ज्ञानपरिणाम को पुद्गलकर्म के साथ अथवा रागादि के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं परंतु वह ज्ञान रागादि को जानता जरूर है। इसप्रकार रागादि को जाननेवाला ज्ञान, वह ज्ञानी का कर्म है। इसप्रकार ज्ञानी अपने आत्मा को ज्ञानपरिणाम का ही कर्ता जानता है—मानता है। राग का कर्ता मैं नहीं हूँ। ज्ञान का कर्ता मैं हूँ। इसप्रकार ज्ञानी अपने आत्मा को ज्ञानपरिणाम —ज्ञानमय ही अनुभव करता है। इसप्रकार आत्माश्रित होते हुए जो निर्मल ज्ञानपरिणाम, उसे

ही जो अपने कर्म (कार्य) रूप करता है और इसके सिवाय अन्य कोई भावों को अपना करता नहीं, वही आत्मा ज्ञानी है। ऐसी पहचान करके अपने आत्मा में भी रागादि का कर्तृत्व छोड़कर निर्मल ज्ञानभावना का कर्तारूप में परिणमित होना—ऐसा तात्पर्य है।

ज्ञानी धर्मात्मा के जो निर्मल आत्मपरिणाम है, वे बंधन के निमित्त भी नहीं हैं। अर्थात् उसको कर्मों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी टूट गया है। उनको परज्ञेयों साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है। अर्थात् ज्ञानी पुद्गल परिणाम को जानता जरूर है परंतु वह पुद्गल परिणाम में व्याप्त नहीं होता। व्याप्त-व्यापकता सजाति में होता है, विजाति में नहीं। भगवान ज्ञाता का व्याप्य ज्ञानमय होता है, अज्ञानमय नहीं होता। कर्ता का जो कार्य है, वही उसका व्याप्य है। ज्ञाता का जो कार्य है, वही उसका व्याप्य है। ज्ञाता का कार्य क्या है? ज्ञानमय वीतरागी परिणाम, वही ज्ञानी का कार्य है। जो रागादि है, वह विरुद्ध भाव है। वह ज्ञाता का कार्य नहीं। विकल्प के कर्तापने से ज्ञानी को देखे तो वह वास्तव में ज्ञानी को पहिचानता ही (जानता ही) नहीं। भगवान अमृतचंद्राचार्यदेव तथा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस शास्त्र की रचना करते हैं। उसमें शब्दों की क्रिया के कर्तापने से या विकल्प से कर्तापनेरूप उनका आत्मा परिणमित नहीं होता; उनका आत्मा भिन्न ज्ञानभावपने से ही परिणमित होता है। निर्मल ज्ञाताभाव में तन्मयरूप ही उनका आत्मा परिणमित होता है। ऐसे कार्यों से ही जो ज्ञानी को पहचानता है, तभी ज्ञानी धर्मात्मा की पहचान होती है। अज्ञानी को तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञानी राग करता है; परंतु भेदज्ञानी तो जानता है कि ज्ञानी का आत्मा राग से भिन्न, ज्ञानभाव को ही करता है। ज्ञान से भिन्न कर्म-नोकर्म को या राग को अंशमात्र भी वह करता नहीं, ज्ञान और राग एक साथ दोनों दिखायी देते हैं, वहाँ अज्ञानी को उसमें कर्ता-कर्मपने का खुद में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किंतु ज्ञान तो ज्ञाता है और राग तो ज्ञेयरूप ही है। वह कोई ज्ञान के कार्यरूप से नहीं, ऐसी भिन्नता को अज्ञानी जानता नहीं। अतः राग के समय में ज्ञानी सचमुच ही क्या करता है, यह वह स्वयं भी नहीं जानता। अहा! राग के समय ज्ञानी का ज्ञान राग से अधिक परिणमित हो रहा है। इसे जो जाने-पहचाने तो भेदज्ञान हो जाता है; ज्ञानी राग को जानते समय भी राग को अपने ज्ञानपरिणाम से बिलकुल बाहर ही रखते हैं। ज्ञान को राग से बिलकुल अलग रखते हैं। ज्ञान की एकता-तादात्म्य—तो अंतर के चैतन्यस्वभाव ही से की है, वह स्वाभाविक एकता का परिणाम ज्ञानी से कभी छोड़ता नहीं है—छूटता नहीं है। और रागादि भावों के साथ

कभी तादात्म्य होता नहीं, अहो! यह भेदज्ञान की महिमा है। भेदज्ञान के बल से यह ज्ञानी आत्मा ज्ञानप्रकाश से चमकता हुआ और राग के अकर्तापने से शोभित होता है। उसका विस्तार हाल ही में फलता है-बढ़ता है, इसके सिवाय उसका और कहीं भी विस्तार नहीं होता। जगत से पृथक्ता समझकर ही ज्ञानस्वरूप में झुका हुआ है। अंतर में ज्ञानस्वभाव में झुका हुआ जीव पर्याय में भी राग का अकर्तारूप से शोभित होता है, ज्ञानप्रकाश इसप्रकार खिला है कि अज्ञान-अंधकार को नष्ट कर डाला हो। उसमें अब विकारों के साथ कर्ता-कर्मपने की प्रवृत्ति की संभावना ही नहीं है।

आत्मस्वभाव में तन्मय हुए ऐसे सम्यक्त्वादि परिणाम, वह आत्मपरिणाम है, वह ज्ञानी का कार्य है, ज्ञानी स्वतंत्रता से उसका कर्ता है।

आत्मस्वभाव में तन्मय हुए ऐसे जो विकारी परिणाम में आत्मपरिणाम नहीं, वह ज्ञानी का कार्य नहीं, ज्ञानी उसके कर्ता नहीं। विकारी परिणाम वह आत्मपरिणाम नहीं, इसलिये उन्हें पुद्गल परिणाम कह दिया है। आत्मा के साथ जिनकी एकता न हो—तादात्म्य न हो—उन्हें आत्मा के परिणाम कैसे कहे जायें? धर्मी स्वयं के धर्मपरिणाम ही का कर्ता है, राग-विकारादि तो अधर्म परिणाम है। उसका कर्ता धर्मी-धर्म का करनेवाला—कैसे हो? कदापि नहीं।

ज्ञान को और राग (विकार) को अतत्पना भिन्नता है। जो ज्ञान है, वह राग नहीं, जो ज्ञान है, वह राग नहीं, तो ज्ञानी को राग का कर्तापन कैसे हो? और राग ज्ञानी का कार्य कैसे हो? कदापि नहीं। आत्मा है, वह तो ज्ञान है और ज्ञान जो है, वही आत्मा है। इसप्रकार आत्मा को स्वयं के ज्ञानपरिणाम के साथ तत्पना है। अतः ज्ञानी खुद् के ज्ञानपरिणाम का ही कर्ता है और ज्ञानपरिणाम ही उसका कर्म है। इसप्रकार ज्ञानपरिणाम ही के साथ कर्ता-कर्मपने का होना, यही ज्ञानी का चिह्न है और इसी से ज्ञानी पहिचाना जाता है। जो जीव इसप्रकार ज्ञानी को पहिचानते हैं, वह स्वयं ज्ञान और राग का भेदज्ञान करके ज्ञानी होते हैं।

आत्मा का ज्ञान होते ही आस्रव छूट जाते हैं

[श्री समयसार कर्ताकर्म अधिकार पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से]

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को 'भगवान' कहा है; क्योंकि वह स्वयं महिमावंत पदार्थ है। ऐसा भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसे ज्ञानमात्रभाव में बंधन नहीं है, विकार नहीं है, मलिनता नहीं है। अशुभ पापराग या शुभ पुण्यराग—वे दोनों मलिन बंधभाव हैं, वे चेतनारहित होने से जड़ हैं, वे स्वयं अपने को या अन्य को नहीं जानते। और आत्मा तो स्वयंप्रकाशी स्व-पर को जाननेवाला चेतनस्वभावी है। इसप्रकार दोनों की भिन्नता का ज्ञान होते ही आत्मा उन रागादि आस्रवों को पराये जानकर तक्षण उनसे विमुख होता है और उनसे पृथक् होकर ज्ञानभावरूप परिणमित होता है; इसलिये उसे बंधन नहीं होता। पहले राग से प्रेम था, उसके बदले अब पहिचान होने पर अपना ज्ञान ही प्यारा लगा। मैं तो ज्ञान ही हूँ, ज्ञान से अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान ही बंध से छूटने का कारण है।

आत्मा और रागादि भिन्न हैं।—किसप्रकार? वह दृष्टांत से समझाते हैं। जिसप्रकार पानी में जो काई है, वह पानी नहीं है, पानी तो काई से भिन्न स्वच्छ है; पानी स्वच्छ है और काई मैल है—दोनों भिन्न हैं। उसीप्रकार रागादि आस्रवभाव, वे आत्मा के चैतन्यस्वभाव से भिन्न हैं; रागादि वह चैतन्यभाव नहीं है, चैतन्यतत्त्व तो राग से भिन्न स्वच्छ स्व-पर प्रकाशक है। वह पवित्र है और रागादि मैल है;—इसप्रकार दोनों की भिन्नता है।

आत्मा चैतन्यस्वभावरूप से अनुभव में आता है। रागादिभाव, वे चैतन्यरूप से अनुभव में नहीं आते परंतु मलिनता एवं आकुल स्वादरूप से अनुभव में आते हैं। आत्मा के अनुभव में आकुलता नहीं होती, आत्मा का अनुभव तो परम शांत आनंदरूप है।—इसप्रकार राग से भिन्नरूप आत्मा का अनुभव ज्ञान द्वारा होता है। ऐसी भिन्नता जिस ज्ञान ने जान ली, वह ज्ञान रागादि के साथ एकता नहीं करता परंतु उसे अपने से भिन्न जानता हुआ आस्रवों से निवर्तता है; वहाँ कर्म का आस्रव नहीं होता। इसलिये ज्ञान ही कर्मबंधन से छूटने का उपाय है। अहो, सर्वज्ञभगवान ने आत्मा को 'भगवान' कहा है। जिसप्रकार माता अपने पुत्र को लोरियाँ गा-गाकर उसे सुलाती है, उसीप्रकार जिनवाणी माता आत्मा को उसके गुणगान की लोरियाँ गाकर जगाती है कि—अरे जीव! तू भगवान है... तू पवित्र है... तू आनंदरूप है.. भाई, तू अपने

निजगुणों से प्रेम कर, राग में तेरी शोभा नहीं है। अपने गुणों की महिमा भूलकर अनादि से जीव राग के प्रेम में रुक रहा है, अपने आत्मा का रागरूप ही अनुभव कर रहा है—वही भवभ्रमण का कारण है। अपना स्वभाव रागरहित होने पर भी रागसहित अनुभव करता है, परंतु भूतार्थस्वभाव रागरहित शुद्ध है—ऐसा अनुभव और भेदज्ञान करना वह मोक्ष का कारण है।

❀ ❀ ❀

रागादि आस्रवभाव आकुलतारूप है और दुःख के तथा बंध के कारण हैं; राग से भिन्न चैतन्य भगवान आत्मा तो निराकुल आनंदस्वरूप है, वह दुःख का कारण नहीं है। आत्मा का अनुभव निराकुल शांत सुखरूप है, उसमें दुःख नहीं है। भाई, तुझे सुखी होना हो तो आनंदमूर्ति अपने आत्मा के सन्मुख देखना पड़ेगा। राग तो दुःख का घर है, उसके समक्ष देखने से तुझे सुख प्राप्त नहीं होगा। सुख का धाम तो आत्मा है, उसमें उपयोग जमाने से परम सुख का अनुभव होता है।

श्रीमद् राजचंद्र का वचन है कि—'दुःख का कारण मात्र विषमात्मा है; और वह यदि सम है तो सर्वत्र सुख ही है।' विषम आत्मा अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वही दुःख का कारण है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई दुःख का कारण नहीं है। रोग, निर्धनता आदि बाह्य संयोग कहीं दुःख का कारण नहीं है; राग-द्वेष-मोहरूप जो विषमता, वही दुःख का कारण है।

भगवान आत्मा किसी का कारण-कार्य न होने से दुःख का अकारण है। पिछली बार जब सम्मेदशिखरजी यात्रा को गये थे, तब यह बात प्रवचन में आयी थी। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसे अन्य कोई कारण नहीं है। राग कारण होकर आत्मा की प्राप्ति कराये, ऐसा नहीं है; तथा आत्मा कारण होकर राग को अपना कार्य बनावे, ऐसा भी नहीं है। रागादिक के साथ आत्मा को कारण-कार्यपना नहीं है। राग को तो दुःख के साथ कारण-कार्यपना है। भगवान आत्मा स्वयं सुखरूप है, उसे सुख के लिये अन्य किसी के साथ कारण-कार्यपना नहीं है; तथा दुःख का कार्य-कारणपना भी उसमें नहीं है। आत्मा की प्राप्ति दुःख द्वारा (राग द्वारा) नहीं होती, निराकुल ज्ञान द्वारा आत्मा अनुभव में आता है।

भाई, प्रथम आत्मा को समझने के लिये उसकी मिठास आना चाहिये। अन्य बातों की गंध (रुचि) छोड़कर समझना चाहे तो आत्मा की सुगंध आये अर्थात् अनुभव हो। नाक में दुर्गंध की गोली भर रखी हो, उसे फूल की सुगंध कहाँ से आयेगी? यदि दुर्गंध निकाल दे तो

सुगंध का अनुभव हो। उसीप्रकार चैतन्य के परम आनंद की यह मीठी-मधुर बात है... परंतु जिसने परभाव की रुचिरूपी दुर्गंध भर रखी है, उस जीव को स्वभाव के आनंद की सुगंध का अनुभव नहीं होता। भाई! राग और ज्ञान दोनों की जाति ही भिन्न है—ऐसा समझकर राग की रुचि छोड़ और ज्ञानानंदस्वभाव की रुचि कर, तो तुझे अपने स्वभाव के अपूर्व सुख का अनुभव होगा। अपने ज्ञान की रुचि के सिवा अन्य किसी कारण से सुख की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् धर्म नहीं होता। ऐसे शुद्ध ज्ञान की रुचि और पहिचान के बिना शुभाशुभ क्रियाकांड सब व्यर्थ हैं। शुद्धज्ञान की प्रतीति के बिना देव-गुरु-धर्म की शुद्ध श्रद्धा भी नहीं होती। देव-गुरु ने राग को बंध का कारण कहा है, उसके बदले राग को धर्म का कारण मानकर उसका सेवन करे, उस जीव ने देव-गुरु को नहीं माना है। भाई, इस समय इस शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करने का अवसर आया है। 'फिर करूँगा'—ऐसा वादा मत करना। जिसकी रुचि हो, उसमें वादा नहीं होता। पैसे की रुचि वाला ऐसा नहीं कहता कि अभी पैसे की जरूरत नहीं, फिर धीरे-धीरे कमाऊँगा! वहाँ तो यदि एकसाथ लाखों-करोड़ों मिल जायें तो ले लेना चाहता है। तो जिसे आत्मा की सच्ची रुचि जागृत हुई हो, उसके भाव में ऐसा नहीं आता कि अभी आत्मा नहीं समझना है, फिर धीरे-धीरे समझ लूँगा; परंतु उसके भाव में तो ऐसा आता है कि इसी समय आत्मा को समझकर उसमें एकाग्रता कर लूँ। जहाँ रुचि हो, वहाँ काल की अवधि अच्छी नहीं लगती। चैतन्य के बिना एक क्षण भी चल न पड़े—ऐसी जिसे लगन लगी है, उसके लिये यह बात है और यह बात समझने पर ही दु:ख की भट्ठी से निकला जा सकता है। शुभ या अशुभ तो सब आकुलता की भट्ठी है, उसमें कहीं शांति नहीं है।

अरे, जिसे राग में आनंद आता है, वह राग से पृथक् होकर आत्मा का अनुभव कहाँ से करेगा? भगवान तो कहते हैं कि—आत्मा ही स्व-पर का प्रकाशक चेतन है और रागादि आस्रव तो चेतन से रहित हैं, वे स्व को या पर को नहीं जानते; इसलिये उन्हें जड़-स्वभाव कहा है; चेतनस्वभाव से उनकी भिन्नता है। राग स्वयं अपने को नहीं जानता, परंतु राग से भिन्न ऐसा ज्ञान ही राग को जानता है। ऐसी ज्ञान और राग की भिन्नता को लक्ष में भी न ले, वह अंतर में भेदज्ञान करके अनुभव तो कहाँ से करेगा? और भिन्न ज्ञान के अनुभव बिना उसे धर्म कहाँ से होगा? ज्ञान का राग से भिन्न परिणमन हो, वही धर्म का और मोक्ष का कारण है। ज्ञान और राग की भिन्नता को जिस क्षण जानता है, उसी क्षण जीव राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप परिणमित होता है।

कोई कहे कि भेदज्ञान तो हुआ परंतु आनंद का अनुभव नहीं हुआ;—तो ऐसा हो ही नहीं सकता। यदि ज्ञान राग से भिन्न होकर परिणमित न हो और राग के साथ ही एकमेरूप से परिणमित होता रहे तो उस जीव को यथार्थ भेदज्ञान नहीं हुआ है, वह मात्र भेदज्ञान की बातें करता है। यदि यथार्थ भेदज्ञान हुआ हो तो ज्ञानी राग में क्यों अटकते हैं? भेदज्ञान का काम तो यह है कि ज्ञान का और राग का भिन्नरूप अनुभव करे। आत्मा की ज्ञान के साथ एकता और राग से भिन्नता का अनुभव करे। ऐसे अनुभवरूप भेदज्ञान होने पर आस्रव छूट जाते हैं। पहले अज्ञान से आत्मा रागादि में तन्मयरूप से प्रवर्तन करता था, वह अब भेदज्ञान होते ही ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ रागादिभावों से निवर्तता है; इसलिये उसे बंधन नहीं होता। इसप्रकार भेदज्ञान, वह बंधन से छूटने तथा मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है।

शांति का हिमालय

अहो, जगत में यह चैतन्यस्वभाव तो शांति का पर्वत है। 'हिमालय' अर्थात् बर्फ का पर्वत, उसीप्रकार यह चैतन्यस्वभावी आत्मा परमशांति का हिमालय है। जिसप्रकार ग्रीष्मऋतु की गर्मी में हिमालय के बीच जाकर बैठे तो कैसी शीतलता का अनुभव हो! उसीप्रकार परभावों की आकुलता से जलते हुए इस संसार में यदि शांतरस के हिमालय ऐसे आत्मस्वरूप में जाकर बैठे तो उपशांतरस की परम शीतलता अर्थात् निराकुल शांति का अनुभव होता है। प्रभु! एक बार ऐसे तेरे गुण में दृष्टि तो दे। अपने गुण के कार्यों को परिहचानकर उसकी शांति का स्वाद एकबार चख तो सही!—बाद में तुझे अपने इस शांतरस के समक्ष समस्त संसार नीरस लगेगा—जलते हुए अंगार जैसा लगेगा। जिसप्रकार बर्फ, वह शीतलता का पिंड है; उसीप्रकार यह चैतन्यप्रभु मात्र आनंद का पिंड है; इसमें शांतरस का समुद्र भरा हुआ है। ऐसे तेरे स्वभाव में जाकर दृष्टि तो दे; इसमें विकार का अंश ही नहीं है। विकार का स्पर्श भी तेरे स्वभाव में नहीं है। ऐसे स्वभाव की शांति में संत विराजमान होते हैं, और जगत के लिये भी उन्होंने ऐसे स्वभाव की प्रसिद्धि की है। अरे, जगत के जीवो! अपने ऐसे अद्भुत आत्मवैभव को तुम पहिचानो... रे... पहिचानो... जगत की उष्णता से छूटने के लिये शांति के इस हिमालय में आओ...!

आत्मा का स्वाधीन स्वभाव

आत्मा में जो अपार वैभव भरा हुआ है, उसका यह वर्णन है। अहा, चैतन्य दरबार में कैसा अनंत रत्नों का समुद्र भरा हुआ है! कैसा अचिंत्य चैतन्यवैभव अंतर में विद्यमान है! उसे संतों ने बतलाया है। अहो, ऐसे निजवैभव को कौन नहीं देखेगा? कौन नहीं लेगा? कौन नहीं अनुभव करेगा? हे जीवो! तुम अपने ऐसे आत्मवैभव को देखो, अनुभव करो, तुमको परम आनंद होगा।

यह ज्ञानस्वरूपी आत्मद्रव्य अन्य द्वारा नहीं किया गया है, इसलिये 'अकार्य' है; और स्वयं किसी अन्य को नहीं करता, इसलिये 'अकारण' है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा अकार्यकारणत्वरूप धर्म से सहित है। जिसप्रकार आत्मद्रव्य पर के कार्यकारणरूप से रहित है उसीप्रकार उसके सर्व गुण और पर्यायें भी पर के कार्य-कारण से रहित हैं।

आत्मा पर का कारण नहीं और पर का कार्य भी नहीं है। आत्मा का स्वभाव ऐसा स्वाधीन है कि पर से किया नहीं जाता; विकल्प कर्ता होकर आत्मा के स्वभाव का कार्य करे—ऐसा आत्मा नहीं है। उसीप्रकार आत्मा कारणरूप होकर राग को करे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ऐसा अकार्यरूप है कि अन्य किसी कारण की उसे अपेक्षा नहीं है। निजस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी कारण को वह अपने कारणरूप स्वीकार नहीं करता। उसीप्रकार कर्म आदि अन्य पदार्थ का कारण हो, ऐसा कारणपना भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव में तो नहीं और उस स्वभाव की ओर झुकी हुई निर्मल पर्याय में भी किसी परभाव के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की एक भी शक्ति (गुण) स्वयं यदि विकार का कारण हो तो विकार निरंतर हुआ ही करे।—परंतु ऐसा नहीं है। स्वभावसन्मुख होने पर विकार चला जाता है, इसलिये विकार वह स्वभाव का कार्य नहीं है। उसीप्रकार विकारी भाव (शुभराग) कारण होकर आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कार्य को करे, ऐसा भी नहीं

है। ज्ञानादि निजशक्ति से आत्मा स्वयं कार्यरूप से परिणमन करता है। आत्मा की एक भी शक्ति ऐसी नहीं कि निजकार्य के लिये अन्य का अवलंबन ले। ज्ञान अपने कार्य के लिये अन्य का अवलंबन ले अथवा तो ज्ञानपरिणमन करके अन्य का कार्य करे—ऐसा अन्य के साथ कार्य-कारणपना ज्ञान में नहीं है। वास्तव में आत्मा की ज्ञानशक्ति को ज्ञानावरणकर्म के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की ऐसी अकारणकार्यशक्ति सर्वगुणों में व्याप्त हुई है, इसलिये ज्ञान की भाँति श्रद्धा, आनंद आदि किसी भी गुण को अथवा उसकी पर्याय को पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। शुभराग कारण होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य को कर दे—ऐसा नहीं होता। राग में से सम्यग्दर्शनादि कार्य प्रगट हो तो आत्मा रागमय हो गया; क्योंकि कारण और कार्य पृथक् जाति के नहीं होते।

आत्मा की प्रत्येक शक्ति में स्वयं कारण-कार्यपने का समावेश है। पर के साथ इसका संबंध नहीं है। आनंद का कारण कौन? कि आत्मा की आनंदशक्ति ही कारण है। ज्ञान का कारण कौन? ज्ञानशक्ति ही ज्ञान का कारण है। ऐसे अनंत गुणों में अपने-अपने कार्य का कारण होने की शक्ति है। पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा के अनंत गुण सदा एक क्षेत्र में रहे हुए हैं, गुणों को क्षेत्रभेद नहीं है। द्रव्य-गुण का सदा एकक्षेत्रपना है और उनकी पर्याय भी स्वक्षेत्र में ही व्यापक है। आत्मा के ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय में अन्य का कारण-कार्यपना किंचित् भी नहीं है। जहाँ अकारण-कार्यस्वभावी ऐसे द्रव्य को दृष्टि में लिया, वहाँ स्वद्रव्य को ही कारण बनाकर निर्मलपर्यायरूप कार्य होता है। श्रद्धा में, ज्ञान में, चारित्र में, आनंद में, सर्वगुणों की निर्मल पर्याय में स्वशक्ति ही कारणरूप है। अन्य किसी का कारण नहीं, अन्य को अपना कारण बनाना, ऐसी पराधीनता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। स्वकारण-कार्य की स्वाधीन प्रभुता में भगवान आत्मा विराजमान है।

भगवान! तेरी शांति के लिए, सुख के लिए अन्य कोई कारण नहीं है, तुझमें ही तेरी शांति का-सुख का कारण होने का स्वभाव है। श्री रामचंद्रजी जब लक्ष्मण के शरीर को कंधे पर उठाकर फिरते थे और जब सीताजी की खोज में वन-जंगल में घूमते थे, तब भी वे आत्मा की ऐसी प्रभुता को जानते थे, और उस समय के राग के साथ अपने स्वभाव का कारण-कार्यपना स्वीकार नहीं करते थे। उससमय भी पर के या राग के कारण बिना ही उनके आत्मा में सम्यग्दर्शनादि कार्य होता था। ज्ञानादि निर्मल भावों के कारण-कार्यरूप ही उनका आत्मा

परिणमन करता था। इसीप्रकार सीताजी को भी वनवास के समय अंतर में ऐसे आत्मा का अनुभव था। मेरे आत्मजीवन के लिए किसी अन्य का कारण नहीं, मेरे सुख को अन्य के साथ कारण-कार्यपना नहीं है; पर के साथ कारण-कार्य संबंध रहित मेरा निरपेक्ष आत्मा ही मुझे शरण है; मेरे आनंद में अन्य किसी का कारण हो, ऐसा नहीं है। मेरा आनंदस्वभाव ही स्वयं परिणमन करके आनंदरूप कार्य करता है। प्रत्येक आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है परंतु उसको जो लक्ष में लेता है, उसे वह पर्याय में प्रगट होता है और तब भगवान आत्मा अपने अनेकांत-वैभव से प्रसिद्ध होता है। आत्मा में निर्मल पर्याय का उत्पाद-व्यय होता है, वह तो स्वभाव है, उसमें किसी अन्य को कारण नहीं है। तथा आत्मा अपनी पर्याय द्वारा कारण होकर अन्य के कार्य को करे, ऐसा भी नहीं बनता, आत्मा की ज्ञानपर्याय को अपनी ज्ञानशक्ति के साथ ही कारण-कार्यपना है, ज्ञानावरणादि पर के साथ उसको कारण-कार्यपना नहीं है।

लोग कहते हैं कि कारण की शोध करो; परंतु भाई! तू कारण की कहाँ शोध करेगा? अपने में या पर में? पर में तो तेरा कारण है ही नहीं, इसलिये उसमें शोधना तो व्यर्थ है। तेरा सहजस्वभाव ही तेरे कारणरूप परिणमन करके तुझे केवलज्ञान दे ऐसा है। श्री प्रवचनसार में आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट होता है। निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारणपने का संबंध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूंढ़ने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं।

स्वयं कारणरूप होकर अन्य का कार्य नहीं करे, ऐसा 'अकारण' स्वभाव और अन्य को कारणरूप स्वीकार करके स्वयं उसका कार्य नहीं हो, ऐसा 'अकार्य' स्वभाव; इसप्रकार का अकारण-कार्यस्वभाव आत्मा में त्रैकालिक है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है, इसलिये जिसप्रकार त्रैकालिक द्रव्य-गुण अन्य से करने में नहीं आते, उसीप्रकार पर्याय भी अन्य से करने में नहीं आती। वाह! कितनी स्वाधीनता! आत्मा को अपने धर्म की परिणति के लिये शरीरादि की क्रिया साधन होती है—ऐसा माने, उसे आत्मा के स्वभाव का पता नहीं है। परमात्मपना अपने में से ही प्राप्त हो और अन्य का पराश्रितपना नहीं रहे, ऐसी यह बात है। ऐसा ही आत्मा का वैभव है। इस वस्तु को लक्ष में ले तो उपादान-निमित्त या निश्चय-व्यवहार आदि समस्त तत्त्वों का निर्णय हो जाये। अरे, आत्मा! तुझमें प्रभुता का परम सामर्थ्य भरा हुआ

है, फिर तुझे अन्य किसकी सहायता लेनी है ? तेरी शक्ति में ऐसी अपूर्णता कहाँ है कि तुझे बाह्य में अन्य कारण की शोध करना पड़े ? अरे स्वशक्ति में महान सामर्थ्य है, उसे भूलकर निमित्तकारण के पास दीनता करके तू क्यों अटक गया है ! पर के कारण आत्मा में हीनता हो, ऐसी बात तो दूर रही, और अपनी पर्याय के कारण हीनता हो, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। दीनता या हीनता से रहित आत्मस्वभाव है, उसकी शक्ति में से तो पूर्ण विकास ही प्रगट होता है, और वह भी अन्य कारण रहित ही प्रगट होता है, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव का ऐसा वैभव तुझमें भरा ही है, उस पर दृष्टि डाले तो प्रगट होने में देर न लगे।

श्री समयसार गाथा 72 में आत्मा और आस्रव की पृथक्ता का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—आस्रव आकुलता को उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये दुःख का कारण है और भगवान आत्मा तो सदा निराकुलता स्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं है, इसलिये दुःख का अकारण है। आत्मा स्वयं निजस्वभाव से दुःख का कारण नहीं है। गुणस्वभावी आत्मा अपने गुणों के कार्य का कारण होता है, परंतु अन्य का कारण नहीं होता। यदि अन्य के साथ कारण-कार्यपना करने जाये तो वहाँ आकुलता और दुःख की ही उत्पत्ति होती है। इसप्रकार पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप आस्रव, वह दुःख का कारण है और भगवान आत्मा स्वयमेव सुखरूप होने से दुःख का कारण नहीं है।—इसप्रकार पृथक्ता जानकर, क्रोधादि से भिन्न आत्मस्वभाव का अनुभव करने पर आत्मा निर्मल सुखरूप परिणमन करता है, और दुःखरूप ऐसे आस्रवभाव से छूट जाता है।

इस चैतन्यसमुद्र में अनंतगुणरत्न भरे हुए हैं; एक-एक रत्न महान है, ऐसा महान चैतन्यरत्नाकर जगत में सबसे श्रेष्ठ रत्न है। तू स्वयं ऐसे श्रेष्ठ चैतन्यरत्नों का महान भंडार है, और तू दूसरों से सुख की याचना करे, यह तो मीठे पानी के समुद्र में रहनेवाली मछली अपनी प्यास बुझाने के लिए दूसरों से पानी माँगे, उसके जैसा है। जिसप्रकार चक्रवर्ती राजा दूसरों से भीख माँगे, यह शोभा नहीं देता; तो चक्रवर्ती भी जिसवकी सेवा करते हों—ऐसा यह महान चैतन्यचक्रवर्ती अपना सुख दूसरों से माँगने जाये, यह उसे शोभा नहीं देता। स्वयं अपने स्वभाव के सेवन में ही आत्मा की शोभा है। हे जीव ! तेरा रूप तो स्वाधीनरूप से परिपूर्ण है, उसके बदले पर के कारण मुझमें गुण होगा—ऐसा तू मानता है, वह तो तुझे मोह का भूत लगा हुआ है।

तेरा कारण-कार्यपना तुझमें है—यह बात समझाकर संतों ने अपूर्व स्वाधीनता का ज्ञान

कराया है। स्वाधीन होने पर भी स्वयं अपने को पराधीन मान बैठा था। भाई, तेरे कार्य का कारण तुझमें ही है, पर के साथ तेरे किसी भी गुण का कार्य-कारणपना नहीं है, फिर अन्य को शोधने की बात कहाँ रही? अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव को ही साधन बना। स्वभाव को साधनरूप से अंगीकार करने पर आत्मा स्वयं साधन होकर केवलज्ञानादि कार्यरूप परिणमन करता है। पर के अवलंबन से या राग के अवलंबन से आत्मा में केवलज्ञानादि कार्य हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार परवस्तुओं में भी ऐसा स्वभाव नहीं है कि वे आत्मा को कुछ भी दें, अथवा आत्मा का साधन हों।

अहा, कितना स्वाधीन स्वभाव! कितनी निराकुलता और कितनी शांति! अनंत गुण के वैभववाले इस आत्मा में ऐसा एक भी गुण नहीं कि जो राग को करे और कर्म के कारणरूप हो। आत्मगुणां के आश्रय से जो निर्मल परिणति प्रगट हुई, वह भी अन्य के (राग के अथवा कर्म के) कारणरूप नहीं होती। जो शुभराग होता है, उस राग का कारण होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार अपने स्वभावकार्य में राग को कारण बनाये, ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव को जिसने प्रतीति में लिया, उसको अकारण-कार्यस्वभाव का सम्यक्परिणमन प्रगट हुआ, इसलिये रागादि कर्तृत्वरहित ज्ञानभावरूप ही रहता हुआ वह मोक्ष को साधता है।

शरीरादि के किसी भी कार्य का कारण हो, ऐसा एक भी स्वभाव आत्मा के द्रव्य में गुण में या पर्याय में नहीं है। उसीप्रकार शरीरादि को कारण बनाकर आत्मा उससे किंचित् धर्म करे—ऐसा भी स्वभाव नहीं है। आत्मा को कुछ भी दे, ऐसा स्वभाव जड़ में नहीं और जड़ में से कुछ ले, ऐसा स्वभाव आत्मा में नहीं है। आत्मा को पर के साथ कारण-कार्यपने का अभाव है। कारण-कार्य की बात निकालकर पर के साथ का संबंध ही तोड़ डाला, इसलिये अब अपने त्रैकालिक द्रव्य-गुण के साथ ही पर्याय का संबंध हुआ, पर्याय पर से हटकर स्वद्रव्य की ओर उन्मुख हुई, अपने शुद्ध द्रव्य-गुण में एकाग्र होकर पर्याय भी वैसी निर्मल हुई। उस पर्याय में कहीं पर के साथ (राग के साथ) कारणकार्यपने का संबंध नहीं है। इसका नाम धर्म और यही मोक्ष का मार्ग है।

श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि:—

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तू कर्म,
नहिं भोक्ता तू उसका, यही धर्म का मम।

उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि—

छूटे राग अध्यास तो, नहीं कर्त्ता तू कर्म,
नहिं भोक्ता तू उसका, यही धर्म का मम।

शरीर मैं, राग मैं और यह मेरा कार्य—ऐसी जो राग के साथ एकत्वबुद्धि उसके कारण अज्ञानी रागादि का कर्ता होता है। मैं तो ज्ञान हूँ, राग मैं नहीं हूँ, और राग मेरे ज्ञान का कार्य नहीं, ऐसी पृथक्ता के अनुभव द्वारा जहाँ राग के साथ एकत्वबुद्धि का अध्यास छूट गया वहाँ धर्मी जीव ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, वह रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं होता। ऐसी दशा प्रगट हो, उसका नाम धर्म है।

अशुद्ध उपयोग के नाश के लिये धर्मी जीव कैसी मध्यस्थ भावना प्रगट करता है, उसका वर्णन करते हुए श्री प्रवचनसार में कहते हैं कि:—

मैं देह नहिं, वाणी न, मन नहिं, उनका कारण नहीं;
कर्त्ता न, कारियता नहीं अनुमंता कर्त्ता का नहीं।

जिन्हें शरीरादि कार्यों के प्रति कर्तृत्वबुद्धि हो, उन्हें मध्यस्थता नहीं रह सकती। धर्मी जानता है कि मैं शरीरादि का आधार नहीं हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, कारण नहीं हूँ, मेरे आधार बिना, मेरे कर्तृत्व बिना, मेरे कारण बिना, वे स्वतंत्ररूप से परिणमन कर रहे हैं, इसलिये उनके पक्षपातरहित मैं अत्यंत मध्यस्थ हूँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा का ऐसा मध्यस्थ स्वभाव है।

धर्मी ने ऐसे आत्मा का अनुभव किया है। सर्व आत्माओं का ऐसा ही स्वभाव है परंतु अज्ञानी उसे नहीं जानता, इसलिये विपरीत मानता है, और ज्ञानी उसे यथार्थ जानते हैं। आत्मा अन्य किसी का कुछ नहीं कर सकता, तब तो वह शक्तिहीन हो गया!—ऐसा अज्ञानी को प्रतीत होता है, परंतु भाई, तेरी स्वशक्ति तुझमें कार्य करेगी या पर में? यदि तेरा आत्मा पर के कार्य करे और परवस्तु तेरे आत्मा का कार्य करे—तो अपने कार्य के लिये तुझे पर के सामने ही देखने की पराधीनता रही! यह तो महा विपरीतता है, दु:ख है। तेरी स्वशक्ति तुझमें ही स्वाधीनरूप से कार्य करती है। अपने कार्य के लिए तुझे पर की किंचित् अपेक्षा नहीं है। ऐसा अकारण-कार्यपना तेरे आत्मा में है, उसीप्रकार समस्त पदार्थों में है। तेरे अकारण-कार्यस्वभाव के कारण

तेरी स्वशक्तियों में और उनकी पर्यायों में अकारण-कार्यपना है; तेरी एक भी शक्ति अथवा एक भी पर्याय में पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। तेरा स्वभाव कारण और पर्याय कार्य; शुद्धस्वभावरूप जो कारण, उसका कार्य भी शुद्ध है; वास्तव में अशुद्धता, वह शुद्ध शक्ति का कार्य नहीं है। अशुद्धता का कारण हो, ऐसी एक भी शक्ति आत्मा में नहीं है। ऐसी शुद्धशक्तिवाले ज्ञानमात्र आत्मा को (शुद्धकार्यसहित) सम्यग्दृष्टि जीव देखता है।

महात्मा कहते हैं कि—अरे आत्मा! भगवान तीर्थंकरदेव ने ऐसा आत्मा स्वयं अनुभव करके कहा है, संतों ने अपने अंतर में ऐसे आत्मा का अनुभव किया है। अपने ऐसे आत्मा को भूलकर तूने चार गति में भ्रमण किया है और महादु:ख भोगे हैं। तेरा स्वभाव महान है और तेरे दु:ख की विकथा भी महान है। उस दु:ख को मिटाने के लिये और आत्मिक-सुख प्राप्त करने के लिये यह बात है। अपने स्ववैभव को सम्हाले तो उसमें कहीं भी दु:ख नहीं है। जैनशासन में वीतरागी संतों ने ऐसे आत्मवैभव की प्रसिद्धि की है।

स्वानुभूति का सुख

अनादिकाल से स्वरूप को भूलकर, सम्यग्दर्शन के बिना संसार में परिभ्रमण करता हुआ वह जीव समस्त परभावों को पुन:पुन: भोग चुका है; संसार संबंधी समस्त दु:ख-सुख इसने भोग लिये हैं, परंतु अपने स्वरूप के वास्तविक सुख का एक क्षणमात्र भी उपभोग नहीं किया... कि जिस सुख के समक्ष जगत के सर्व इंद्रियसुख नीरस हैं। इंद्रियसुखों से आत्मिक सुख की जाति ही भिन्न है—इसप्रकार इंद्रियों की और आत्मा की भिन्नता है। हे जीव! ज्ञानस्वभाव के अवलंबन द्वारा सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करके स्वानुभूति में अपने इस सुख का तू उपभोग कर!

धर्मात्मा की अनुभूति का वर्णन

(श्री समयसार गाथा 143 के प्रवचन से)

अहो, निर्विकल्प अनुभूति की महिमा सूक्ष्म एवं गंभीर है; यहाँ इस अनुभवदशा का कोई अलौकिक वर्णन किया है। चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की अनुभवदशा की तुलना केवली भगवान की जाति के साथ की है। धर्मी की अनुभवदशा क्या है और निर्विकल्प अनुभव के समय कैसी स्थिति होती है, उसे समझे तो अपने अंतर में भेदज्ञान होकर आत्मा की प्रतीति हो।

''व्यवहार से मेरा आत्मा 'बद्ध' है''—ऐसा शुभविकल्प अथवा ''निश्चय से मेरा आत्मा 'अबद्ध' है''—ऐसा शुभविकल्प, यह दोनों विकल्प तो राग हैं; उस राग के पक्ष में रुका रहे, तब तक आत्मा का अनुभव या सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अब उन दोनों नयों के पक्ष से रहित आत्मा की साक्षात् अनुभूति किसप्रकार हो? उसकी जिसको जिज्ञासा है, ऐसे शिष्य किसप्रकार पक्षातिक्रांत होता है, उसका यह वर्णन है। यह अंतर की मुख्य—प्रयोजनभूत बात है।

विकल्प का पक्ष, चाहे वह व्यवहार का हो या निश्चय का हो, किंतु विकल्प वह तो अशांतचित्त है, उसमें चैतन्य की शांति का वेदन नहीं है। जो जीव पक्ष से रहित होकर चैतन्यस्वरूप में ही निवास करते हैं—उसमें उपयोग को एकाग्र करते हैं, वे समस्त विकल्पजाल से छूटकर शांतचित्त द्वारा साक्षात् अमृत का पान करते हैं—अतीन्द्रिय आनंद को अनुभवते हैं।

यहाँ (143 वीं गाथा में) श्रुतज्ञानी जीव स्वानुभूति के समय कैसा पक्षातिक्रांत है, उस बात की तुलना केवली के साथ करके समझाते हैं। स्वानुभूति में वर्तते हुए जीव को दोनों नयों का मात्र ज्ञातापना है, किंतु नय के विकल्प का ग्रहण नहीं; उसके ज्ञान का उत्साह स्वानुभव के अनुभव की तरफ झुका है, इसलिये विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है; ज्ञान उस

विकल्प को लाँघकर अंतर में स्वभाव की ओर उत्सुक हुआ है। छह बोलों से केवलज्ञान के साथ श्रुतज्ञानी के अनुभव की तुलना करके पक्षातिक्रांत अनुभव का स्वरूप समझायेंगे।

पक्षातिक्रांत

केवली भगवान.....	और.....	स्वानुभूतिवान श्रुतज्ञान
1.		विश्व के साक्षी होने से दोनों नयों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं, उनको नयपक्ष के विकल्प उत्पन्न नहीं होते।
2.		जिसप्रकार विश्व को साक्षीरूप से जानते हैं, उसीप्रकार नयपक्ष को भी साक्षीरूप से केवल जानते ही हैं।
3.		केवली भगवान केवलज्ञान द्वारा स्वयं ही विज्ञानघन हुए हैं।
4.		केवली प्रभु सदा विज्ञानघन हुए हैं।
5.		केवली प्रभु तो श्रुतज्ञान की भूमिका से ही अतिक्रांत हैं।
6.		केवली प्रभु किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसलिये वे पक्षातिक्रांत हैं।
1.		श्रुतज्ञानी को नयपक्ष के विकल्प उत्पन्न होने पर भी उन्हें उन विकल्पों के ग्रहण का उत्साह छूट गया है, इसलिये वे भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।
2.		श्रुतज्ञानी भी नयपक्ष को केवल जानते ही हैं, (क्योंकि नयपक्ष के ग्रहण का उत्साह उनको नहीं, उनका उपयोग तो चैतन्य स्वभाव को ही ग्रहण करने की ओर लगा है।)
3.		श्रुतज्ञानी को भी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से शुद्ध आत्मा का ग्रहण हुआ है, इसलिये वे स्वयं विज्ञानघन हुए हैं।
4.		श्रुतज्ञानी उस समय अर्थात् अनुभवकाल में विज्ञानघन हुए हैं।
5.		श्रुतज्ञानी अनुभव के समय श्रुतज्ञानात्मक समस्त विकल्पों की भूमिका से अतिक्रांत हैं।
6.		श्रुतज्ञानी भी स्वानुभूति के समय किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसलिये वे भी समस्त विकल्पों से रहित पक्षातिक्रांत हैं; वे अनुभूतिमात्र समयसार हैं। उन्हें आत्मा की ख्याति-आत्मा की प्रसिद्धि है; इसका नाम 'धर्म-लब्धि का काल' है।

अहो, अनुभवदशा का कोई अलौकिक वर्णन किया है। चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की अनुभवदशा की तुलना केवली भगवान की जाति के साथ की है। धर्मी की अनुभवदशा क्या है और निर्विकल्प अनुभव के समय की स्थिति कैसी होती है, यह समझ ले तो अंतर में भेदज्ञान होकर आत्मा की प्रतीति हो। विकल्प द्वारा आत्मा हाथ नहीं आता, विकल्प से भिन्न होकर ज्ञान अंतरोन्मुख हो, तब उस ज्ञान में आत्मा अनुभव में आता है। उसमें परम समाधि है, उसी में परम शांति है, उसमें जीव का सच्चा जीवन है। आत्मा जैसा था, वैसा उसमें प्रसिद्ध हुआ; आत्मा अपने परम स्वभाव से प्रसिद्ध हुआ; इसलिये उसे परम आत्मा कहा। चौथे गुणस्थान की यह बात है। ऐसी अनुभूति होने पर ज्ञान को विकल्प के साथ का कर्ताकर्मपना छूट गया। मैं ज्ञान कर्ता और विकल्प मेरा कार्य—ऐसी कर्त्ताकर्मबुद्धि छूट गई, और ज्ञान, ज्ञान में ही तन्मय होकर परिणमन करने लगा। आस्रव से छूटकर संवररूप परिणमित हुआ। वहाँ सब झगड़े मिट गये, समस्त क्लेश दूर हो गया, ज्ञान समस्त विकल्पजाल से छूटकर स्वयं के चैतन्यस्वरूप में गुप्त हुआ। ऐसा परम शांतचित्तरूप होकर ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मा को साक्षात् अनुभवता है।

❖ जिसप्रकार केवली भगवान पक्षातिक्रांत हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी पक्षातिक्रांत हैं।—यह बात समझायी है। वाह! निर्विकल्प अनुभूति की महिमा कैसी सूक्ष्म एवं गंभीर है! श्रुतज्ञानी साधक की अनुभूति का स्वरूप समझाने के लिये आचार्यदेव ने केवली भगवान का उदाहरण दिया, और उनके साथ साधक की अनुभूति की तुलना की। केवली भगवान तो केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व के साक्षी हुए हैं, इसलिये नयपक्ष के भी वे साक्षी ही हैं, उनको कोई विकल्प नहीं आता; साधक श्रुतज्ञानी को अभी क्षयोपशम की भूमिका होने से श्रुतसंबंधी विकल्प उत्पन्न होते हैं परंतु उसे उन विकल्पों को ग्रहण करने का उत्साह छूट गया है, उपयोग को विकल्प से भिन्न करके ज्ञानस्वभाव के ग्रहण की ओर झुकाया है, इसलिये उस स्वभाव की ओर का ही उत्साह है और विकल्प की ओर का उत्साह नहीं है।

❖ जिसप्रकार केवली भगवान नयपक्ष के किसी विकल्प को नहीं करते, विश्व के साक्षी हैं, उसीप्रकार नयपक्ष के भी साक्षी हैं, साक्षीरूप से केवल जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी नयपक्ष के किसी विकल्प को नहीं करते किंतु उसके स्वरूप को केवल जानते ही हैं। इस विकल्प से मुझे अंशमात्र लाभ होगा, अथवा विकल्प द्वारा स्वरूप का अनुभव

होगा—ऐसी बुद्धि सर्वथा छूट जाने से विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है, इसलिये उसके साक्षी होकर स्वभाव के ग्रहण की ओर परिणति झुक गई है।

❖ केवली भगवान निरंतर प्रकाशमान सहज केवलज्ञान द्वारा स्वयं सदा विज्ञानघन हुए हैं, श्रुतज्ञानी भी अपनी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि द्वारा अर्थात् स्वसन्मुख उपयोग द्वारा चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करके उस काल विज्ञानघन हुए हैं। साधक को ऐसी अनुभूति सदा नहीं रहती, इसलिये ऐसा कहा है कि इस अनुभूति के समय विज्ञानघन हुए हैं। केवली भगवान को तो कभी विकल्प नहीं उठता, इसलिये वे तो सदा विज्ञानघन हुए हैं; और श्रुतज्ञानी तीक्ष्ण ज्ञानउपयोग द्वारा चैतन्यस्वरूप को अनुभवते हुए उस काल विज्ञानघन हुए हैं। 'विज्ञानघन' में विकल्प का प्रवेश नहीं है।

❖ केवली भगवान तो श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रांत हो गये हैं, उन्हें तो विकल्प कहाँ से हो? श्रुतज्ञान हो, वहाँ विकल्प हो सकते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान एक ही ज्ञेय में अधिक समय स्थिर नहीं रह सकता, किंतु केवली प्रभु के तो श्रुतज्ञान ही नहीं रहा, उन्हें तो स्थिर उपयोगरूप केवलज्ञान प्रगट हो गया है; इसलिये उनको विकल्प का अवकाश ही नहीं। श्रुतज्ञानी को श्रुत की भूमिका में यद्यपि विकल्प होते हैं, किंतु ज्ञान को अंतर्मुख करके अनुभूति के समय तो वे भी समस्त विकल्पों की भूमिका से अतिक्रांत हुए हैं परंतु उस भूमिका के समय विकल्पों से अतिक्रांत होकर निर्विकल्प अनुभूति द्वारा शांतचित्त होकर चैतन्य के अमृत का पान करते हैं।

❖ —इसप्रकार जैसे केवली भगवान समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर होने से नयातिक्रांत हैं, उसीप्रकार साधक श्रुतज्ञानी भी स्वभाव की अनुभूति के समय समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर होने के कारण किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसलिये वे भी नयातिक्रांत हैं; यद्यपि तत्पश्चात् जो विकल्प उठते हैं, उनका भी उनकी दृष्टि में ग्रहण नहीं है, उनमें एकत्वबुद्धि नहीं होती, परंतु उन विकल्पों को भी छोड़कर जब ज्ञान को अंतर्मुख करें, तभी साक्षात् अनुभूति का आनंद आता है। उसका यहाँ आचार्यभगवान ने अलौकिक वर्णन किया है।

अनुभूति की अत्यंत रसप्रद बात समझायी है! अनुभव समस्त विकल्पों से परे है—फिर भले ही वह विकल्प शुद्धात्मा का हो! जैसे केवली को विकल्प नहीं, वैसे ही साधक को भी अनुभव में विकल्प नहीं। विकल्प तो आकुलता है और अनुभव तो परम-शांत आनंदरूप है। साधक की अनुभवदशा बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर है। उसका स्वरूप केवली का दृष्टांत देकर समझाया है, तद्नुसार जो समझेगा, उसे ऐसी अनुभूति अवश्य होगी।●●

आत्मस्वरूप को समझो

स्वामीजी अत्यंत करुणापूर्वक कहते हैं कि—अरे भाई! वाद-विवाद छोड़कर ऐसी आत्मवस्तु के विचार में और मंथन में रहेगा तो कोई अपूर्व वस्तु हाथ में आयेगी। भाई, जीवन का एक-एक समय महा मूल्यवान है! अरे, मनुष्यभव का ऐसा अवसर व्यर्थ चला गया तो उसका क्या मूल्य? ....इस मनुष्यभव के एक-एक क्षण में भव के अभाव का कार्य करना है। यह मनुष्य जन्म कहीं भव बढ़ाने के लिये नहीं है परंतु भव का अभाव करने के लिये है। यदि मनुष्यभव पाकर वह कार्य नहीं किया तो दूसरे भव में और इस भव में अंतर ही क्या? .....जिसप्रकार अनंत भव बीत गये, उसीप्रकार यह भव भी बीत गया तो आत्मा का हित कब करेगा?—इसलिये सावधान होकर अपने आत्मा का स्वरूप समझ।

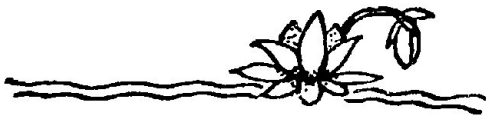

लक्षपूर्वक एकाग्रता

मेरा ज्ञायकस्वभाव शांत-निर्दोष-आनंदमय है। रागादि के आश्रय से उसका अस्तित्व नहीं है;—ऐसा यह आत्मा ही उत्तम, मंगल और शरणरूप है—सुखदाता है, उसकी दृष्टि (उसमें एकत्व की दृष्टि) के बिना अन्य किसीप्रकार कल्याण नहीं होता। अंतर्मुख अवलोकन करे, तभी असत्य का आग्रह छूटकर सत्य परमेश्वर ऐसे अपने आत्मा का अनुभव तथा आश्रय होता है।

जिससे कल्याण होता है, ऐसे अपने अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव का लक्ष करके उसका पक्ष जीव ने कभी नहीं किया। और जिसके आश्रय से कभी कल्याण नहीं होता—ऐसे रागादि व्यवहार का पक्ष कभी छोड़ा नहीं है। इसलिये आचार्यदेव तथा अनंत ज्ञानी कह गये हैं कि—हे भव्य! यदि तुझे हित करना हो, सुखी होना हो तो वह व्यवहार का पक्ष (पराश्रय से-निमित्त से लाभ मानने का पक्ष) छोड़ दे और अपने नित्य शरणभूत चैतन्यस्वभाव को स्वसंवेदन ज्ञान से लक्ष में लेकर उसमें एकाग्रता कर।

अजर अमर अविनाशी

[हास्य कवि हजारीलाल जैन 'काका' सकरार (झांसी-उ.प्र.)]

जिसे खोजता फिरता है तू मक्का, मथुरा, काशी,
तेरे ही अंदर बैठा है वह शिवपुर का वासी॥

अपनी भूल न समझी इससे जनम-मरण दु:ख पाता,
स्वरग नरक तिर्यंच गति में भव भव गोते खाता।
वन वन फिरता जिसके खातिर बन साधू संन्यासी,
तेरे ही अंदर बैठा है वह शिवपुर का वासी॥

जाति-धर्म के बंधन में बँधकर पुरुषार्थ गँवाया,
या फिर माया के चक्कर में अपने को विसराया।
लेकिन कभी न सोचा मैं ही सिद्धशिला का वासी,
मेरे ही अंदर बैठा है वह शिवपुर का वासी॥

अपना समझ लिया जिस तन को भक्षाभक्ष खिलाता,
वह भी तेरे साथ न जाता, माटी में मिल जाता।
फिर क्यों इसको समझ रहा है अपना जीवन साथी,
तेरे ही अंदर बैठा है वह शिवपुर का वासी॥

निज का 'दर्शन' कर ले तो सब बिगड़ा काम बनेगा,
तेरे 'ज्ञान' मांहि जग का प्रतिबिम्ब स्वयं झलकेगा।
तब होगा 'चारित्र' आप ही निर्विकार अविनाशी,
तेरे ही अंदर बैठा है वह शिवपुर का वासी॥

अपने को पहिचान जाग उठ, अब क्यों देर लगाता,
तुझको तेरे ही अंदर का तारणहार बुलाता।
'काका' नर तन मिला काट ले जन्म-मरण की फाँसी,

आत्मानुभव करने का उपदेश

(सवैया इकतीसा)

अलख अमूरति अरूपी अविनासी अज,
निराधार निगम निरंजन निरंध है।
नानारूप भेस धरै भेस कौ न लेख धरै,
चेतन प्रदेस धरै चेतन कौ खंध है॥
मोह धरै मोही सौ विराजे तोमैं तोही सौ,
न तोही सौ न मोही सौ न रागी निरबंध है।
ऐसौ चिदानंद याही घट में निकट तेरे,
ताहि तू विचारु मन और सब धंध है॥54॥

अर्थ—यह आत्मा अलख, अमूर्तीक, अरूपी, नित्य, अजन्म, निराधार, ज्ञानी, निविकार और अखंड है। अनेक शरीर धारण करता है पर उन शरीरों के किसी अंशरूप नहीं हो जाता, चेतन प्रदेशों को धारण किये हुए चैतन्य का पिण्ड ही है। जब आत्मा शरीर आदि से मोह करता है, तब मोही हो जाता है और जब अन्य वस्तुओं में राग करता है, तब उनरूप हो जाता है, वास्तव में न शरीररूप है और न अन्य वस्तुओं रूप है, वह बिल्कुल वीतरागी और कर्मबंध से रहित है। हे मन! ऐसा चिदानंद इसी घट में तेरे निकट है, उसका तू विचार कर, उसके सिवाय और सब जंजाल है। **[नाटक समयसार]**

विविध समाचार

सोनगढ़—परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। श्री नियमसारजी तथ्था श्री समयसारजी पर भाववाही आध्यात्मिक प्रवचन हो रहे हैं। पिछले दिनों बाहर के अनेक सज्जनों ने पूज्य स्वामीजी के सत्समागम का लाभ लिया। जिनमें कारंजा महाराष्ट्र के विद्वान श्री ब्रह्मचारी माणिकचंदजी चवरे, एलोरा गुरुकुल के संचालक श्री ब्रह्मचारी यशपाल जैन तथा बाहुबलि कुंभोज की विदुषी महिला श्रीमती गजाबेन तथा प्रसिद्ध उद्योगपति श्री बालचंद हीराचंद की सुपुत्री श्री कुसुमबहिन आदि मुख्य हैं।

जयपुर निवासी सेठ श्री पूरणचंदजी गोदिका, श्री पंडित हुकमचंदजी शास्त्री, श्री पंडित बाबूभाई फतेपुरवाले, श्री पंडित रतनचंदजी शास्त्री विदिशा आदि विद्वानों ने भी पूज्य स्वामीजी की अमृत-वाणी का लाभ लिया। विशाल परमागम मंदिर का निर्माण-कार्य द्रुतगति से चल रहा है।

सूचना—

आत्मधर्म के संपादक श्री ब्रह्मचारी हरिलालजी जैन पिछले दो माह से अस्वस्थ थे। उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधर रहा है। वे आजकल ववाणिया (सौराष्ट्र) में स्वास्थ्यलाभ कर रहे हैं। उनकी अस्वस्थता के कारण गुजराती आत्मधर्म का आगामी अंक नहीं निकल सकेगा। कृपया पाठकगण नोट कर लें।

इंदौर—मार्गशीर्ष शुक्ला 5 से 10 तक यहाँ दिगम्बर जैन उदासीन श्राविकाश्रम के समवसरण जिनमंदिर में विविध कार्यक्रमों के साथ वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव था। जिसमें विशेष वक्ता के रूप में दाहोद निवासी श्री कनुभाई पधारे थे। नोम-दसम के दिन आपके प्रवचन बड़ी सुंदर शैली में हुए। जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप, हेय-उपादय आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला, जिसे सुनकर लोग अत्यंत प्रभावित हुए।

—भुवनेन्द्रकुमार जैन

लालगंज-बुहरानपुर (म.प्र.)—ब्रह्मचारी रमेशचंदजी यहाँ 9 दिन ठहरे और टेप-रिकार्डों द्वारा पूज्य कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन सुनाये तथा शास्त्रसभा, शंका-समाधान जैनशिक्षण कक्षाएँ आदि कार्यक्रम दिया। जैनसमाज को अच्छा लाभ पहुँचाया।

खंडवा (म.प्र.)—तारीख 15 से ब्रह्मचारी रमेशचंदजी का कार्यक्रम जिनमंदिर में चालू है तारीख 23 को 'वीर' होकर तारीख 30 तक सोनगढ़ पहुँचना चाहते हैं।

श्री वीतराग विज्ञान पाठशाला की स्थापना

आगरा नगर में उत्तरप्रदेशीय मुमुक्षु मंडल के तत्त्वावधान में पत्तल गली (कचहरी घाट) में दिनांक 5 दिसम्बर 1972 को श्री दिगम्बर जैन मंदिर के नीचे श्री वीतराग विज्ञान पाठशाला का उद्घाटन पंडित नेमीचंदजी पाटनी ने किया। इस अवसर पर वहाँ की शैली के अनेक गणमान्य सज्जनों के अलावा उत्तरप्रदेश मुमुक्षु मंडल के अध्यक्ष श्री पदमचंद जैन भी उपस्थित थे।

उद्घाटन समारोह में बोलते हुए मंडल के अध्यक्ष श्री पदमचंद जैन ने कहा कि बच्चों के नैतिक ज्ञान के लिये इस प्रकार की पाठशालाओं की स्थापना अत्यंत आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। सभा में पंडित नेमीचंदजी पाटनी एवं श्री चेतनस्वरूपजी ने भी पाठशालाओं की स्थापना पर जोर दिया। आगरा नगर में इस प्रकार की 5-6 पाठशालाएँ और खोली जाएँ, ऐसा सर्व-सम्मति से निर्णय भी हुआ। समारोह के अंत में अध्यक्ष महोदय की ओर से मिष्टान्न वितरण किया गया। उद्घाटन समारोह अत्यंत उत्साहवर्द्धक रहा। प्रेषक-नेमीचंद जैन

अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन मंदिर कमेटी, कचहरी घाट, आगरा

महाराष्ट्र में प्रचार

मलकापुर (महा.)—श्री ब्रह्मचारी रमेशचंदजी तारीख 2-1-73 तक समाज के आमंत्रण पर पधारे। प्रतिदिन दो घंटे प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा, टेपरिकार्डों द्वारा पूज्य स्वामीजी के प्रवचनादि के कार्यक्रम सुचारूरूप से चलते थे। यहाँ दो जिनमंदिर हैं, तथा 100 जैनों के घर हैं, मुमुक्षु मंडल है। नियमित स्वाध्याय, शास्त्रसभा होती थी। समाज ने अच्छा लाभ लिया। यहाँ से ब्रह्मचारीजी खंडवा गये।

[पंडित ब्रह्मचारी रमेशचंदजी जैन खास आमंत्रण मिलने पर धर्मप्रचार हेतु जाते हैं और टेपरिकार्डिंग द्वारा पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सुनाते हैं, उपरांत शास्त्रसभा शंका-समाधान, जैन शिक्षणकक्षाएँ आदि कार्यक्रमों द्वारा समाज को धार्मिक लाभ देते हैं। वे इटावा, करहल, शिकोहाबाद, आगरा, जलगांव, कोल्हापुर, मालेगाँव, धरणगाँव, लालबाडा, बुरहानपुर होकर 2-1-73 से 8 दिन तक मलकापुर में रहे।] —नेमीचंद जैन

(1) धरणगाँव—यहाँ से तीन व्यक्ति जलगाँव आमंत्रण देने आये थे। 75 जैनों के घर हैं विशाल प्राचीन जिनमंदिर है। समाज ने अच्छी तरह लाभ लिया।

(2) शाहपुर—तारीख 24-12-72 को पहुँचा। यहाँ प्रत्येक घर में पूज्य कानजीस्वामी के चित्र लगे हुए हैं, स्वाध्याय मंदिर में भी चित्र है। 30-40 जैनियों के घर हैं; प्रत्येक मकान में एक जिनमंदिर है। प्रतिदिन टेपरिकार्ड द्वारा प्रवचन, प्रश्नोत्तर, शास्त्रसभा आदि कार्यक्रम चलते थे। यहाँ 6 दिन का प्रोग्राम था। समाज में धार्मिक प्रेम और उत्साह है।

(3) कोपनार—यहाँ तारीख 1 से 3 तक कार्यक्रम हुआ 2 जिनमंदिर 20 जैनों के घर हैं। तारीख 4 को मलकापुर जा रहा हूँ। —रमेशचंद जैन

सोलापुर—कोल्हापुर का शिक्षण शिविर समाप्त करके श्री पंडित हुकमचंदजी शास्त्री जयपुर तथा श्री पंडित बाबूभाई फतेपुर वहाँ पधारे। दोनों विद्वानों के बड़े सुंदर प्रभावशाली प्रवचन हुए। हमेशा 250 से 350 तक श्रोतागण सभा में आकर लाभ लेते थे। यहाँ से श्रावण मास के प्रौढ़ जैन शिक्षण शिविर में 30-40 लोगों ने सोनगढ़ आने का निर्णय किया है। यहाँ से मैं बार्सी मार्ग से परली मोमिनाबाद तथा जालना जा रहा हूँ। —ब्रह्मचारी दीपचंद जैन

बार्सी—यहाँ दो दिन का धार्मिक कार्यक्रम रहा।

परली—यहाँ दिगम्बर जैनों की संख्या ढाई-तीन सौ तथा इतनी ही श्वेताम्बर जैनों की संख्या है। यहाँ टेपरिकार्डों द्वारा पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सुनाये तथा अन्य भी कार्यक्रम प्रस्तुत किये। यहाँ से मोमिनाबाद (मराठवाडा) का कार्यक्रम है।

—ब्रह्मचारी दीपचंद जैन

नया प्रकाशन

पुरुषार्थसिद्धिद्युपाय—(श्री अमृतचंद्र आचार्य कृत और आचार्यकल्प श्री पंडित टोडरमलजी कृत भाषाटीका) आधुनिक हिन्दी में सर्वांग सुंदर प्रकाशन प्रथम बार होने से और प्रथम से ही ग्राहक बन जाने से प्रकाशित हुआ है। यह ग्रंथ आचार संहितामय है जिसका अपर नाम जिनागम रहस्य कोष है; सर्वज्ञ वीतराग अहिंसा किसे कहते हैं आदि जिनागम का संक्षिप्त सार तत्त्व आचार्यदेव ने इस ग्रंथ में भर दिया है। मूल्य में भी सस्ता होने से तथा सभी धर्म जिज्ञासुओं के मान्य होने से यह सर्वसम्मत अपूर्व साहित्य है जो देखते ही बनता है। पृष्ठ संख्या-208, मूल्य 2-50, पोस्टेज आदि अलग।

पता— (1) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(2) श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-4, बापूनगर, जयपुर-4 (राजस्थान)

पूज्य स्वामीजी मशीन द्वारा अक्षर खोदने की मंगलविधि कर रहे हैं। उनके निकट बम्बई निवासी श्री पोपटलाल मोहनलाल वोरा के सुपुत्र श्री हँसमुखभाई खड़े हैं; जिनका इस कार्य में विशेष योगदान है और जो मशीन खरीदने इटली गये थे। श्री हँसमुखभाई पूज्य स्वामीजी को मशीन संबंधी जानकारी दे रहे हैं। मशीन आ जाने से 3-4 वर्ष में पूरा होनेवाला कार्य अब 6महीने में पूरा हो जाने की आशा है। कुछ ही दिन में श्री समयसारजी शास्त्र उत्कीर्ण हो जाने के पश्चात् श्री प्रवचनसार शास्त्र की खुदाई का कार्य प्रारंभ हो जायेगा—इसप्रकार करीब 6 महीने में छहों शास्त्र संगमरमर पर उत्कीर्ण हो जायेंगे।

अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

—सुरुचिपूर्ण प्रकाशन—

1	समयसार	7.50
2	प्रवचनसार	4.00
3	समयसार कलश-टीका	2.75
4	पंचास्तिकाय-संग्रह	3.50
5	नियमसार	4.00
6	समयसार प्रवचन (भाग-1)	4.50
7	समयसार प्रवचन (भाग-2)	4.50
8	समयसार प्रवचन (भाग-4)	4.00
9	मुक्ति का मार्ग	0.50
10	चिद्विलास	1.50
11	जैन बालपोथी (भाग-1)	0.25
12	जैन बालपोथी (भाग-2)	0.40
13	समयसार पद्यानुवाद	0.25
14	नियमसार (हरिगीत)	0.25
15	द्रव्यसंग्रह	1.20
16	छहढाला (सचित्र)	1.00
17	अध्यात्म-संदेश	1.50
18	श्रावक धर्म प्रकाश	2.00
19	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	0.25
20	दशलक्षण धर्म	0.75
21	मोक्षमार्गप्रकाशक	2.50
22	मोक्षमार्गप्रकाशक (7वाँ अध्याय)	0.50
23	ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव	3.00
24	मंगल तीर्थयात्रा (सचित्र गुज०)	6.00
25	हितपद संग्रह (भाग-2)	0.75
26	सत्तास्वरूप (श्री गोम्मटसार की प्रस्तावना एवं समाधिमरण स्वरूप सहित)	1.10
27	अष्ट-प्रवचन (भाग-1)	1.50
28	अष्ट-प्रवचन (भाग-2)	1.50
29	अध्यात्मवाणी	1.00
30	अमृतवाणी	1.10
31	जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-1	0.75
32	जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-2	1.10
33	जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-3	0.50
34	बालबोध पाठमाला, भाग-1	0.45
35	बालबोध पाठमाला, भाग-2	1.10
36	बालबोध पाठमाला, भाग-3	0.55
37	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-1	0.55
38	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-2	0.75
39	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-3	0.75
	छह पुस्तकों का कुल मूल्य	3.30
40	वीतरागविज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	2.25
41	खानिया तत्त्वचर्चा (भाग-1)	8.00
42	,, ,, (भाग-2)	8.00

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)